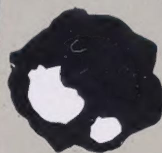
हवाबाज़







गोविन्द मिश्र



'रगड़खाती आत्महत्याएँ' से चलकर 'आसमान... कितना नीला' तक आठ कहानी-संग्रहों के रास्ते से गोविंद मिश्र के कहानी लेखन की यात्रा गुज़री है। लगभग तीस वर्ष लंबी इस यात्रा में गोविंद मिश्र कहानी लिखते हुए कहानी की तलाश भी करते रहे हैं, जो उनके हर नए कहानी संग्रह से स्पष्ट है। 'अंतःपुर' और 'धाँसू' में स्थितियों को जीने, यथार्थ पर तीखी टिप्पणी करने के बाद वे 'पगला बाबा' में जीवन के अच्छे और सुंदर को रेखांकित करते दिखाए दिए और अब अपने नौवें कथासंग्रह 'हवाबाज़' में जैसे वे उस कलात्मकता के भी पार जाने की कोशिश में हैं जो इतने वर्षों लगातार लिखते रहने से उनकी अपनी संपदा बन गई है—जहाँ कथ्य और कहने के ढंग की बारीकियाँ एक होकर ऐसी रसात्मक अन्विति में ढलती हैं कि कहानी पाठक के भीतर थरथराती हुई छूट जाती है।

''आजकल अच्छी कहानी, सशक्त कहानी...इन सब चीज़ों से बहुत दूर मैं सिर्फ कहानी लिखना चाहा करता हूँ...उन व्यक्तियों की जो इस संसार से गुज़रे पर जिनके नक्शेकदम हवा में खींची जाती लकीरों की तरह गुम हो गए या हो जाएँगे। उन उद्वेगों/तनावों की कहानियाँ जो एक वक्त कैसे जानलेवा थे...लेकिन समय ने जिन्हें बुहारकर एक तरफ रख दिया और लोग थे कि बेशरम हो जीते रहे।''

(**'निर्झरिनी-2'** की भूमिका से)

हवाबाज़

[कहानी संग्रह]

हवाबाज़

गोविंद मिश्र



राधाकृष्ण

ISBN 81-7119-413-3

हवाबाज़ (कहानी-संग्रह)

पहला संस्करण : 1998

मूल्य : 95 रुपए

प्रकाशक

राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110 002

शब्द-संयोजक

यूनिक कम्प्यूटर्स
दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

मुद्रक

त्रिवेणी ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

HAWABAZ (Short Stories) by Govind Mishra

क्रम

युद्ध	7
हवाबाज़	26
जुड़ाव	38
पगडंडी	49
साथ-साथ	62
उपचार	72
इजाजत नहीं	79
केयर टेकर	90
कोना	99
बेबस	110
कैम्पस	122

युद्ध

दफ्तर जाने को तैयार वह नाश्ते के लिए मेज पर बैठा था। कभी मेज पर रखी तश्तरी में परांठे की तरफ देखता (रोज-रोज परांठा ...नाश्ते में कुछ और नहीं हो सकता क्या, नॉनवैज इस घर में टैबू है, दकियानूसी हैं सब!), कभी दाहिनी ओर थोड़ी दूर पर सामने बाथरूम साफ कर रही जमादारिन की तरफ (इस औरत के आने का समय यही क्यों है जब उसे नाश्ते पर बैठना होता है। उसके दफ्तर के लिए निकल जाने के बाद आने को क्यों नहीं कहा जा सकता इसे, खाने की मेज बाथरूम के सामने ही क्यों लगाई गई है) और कभी आँखें ऊपर, फिर नीचे करते हुए मेरी तरफ (इसे भी बात करने के लिए यही समय चाहिए, चैन से दो कौर पेट में भी न डाल सके कोई...बाप है कि दुश्मन!)। सामने मेरे उगते ही उसकी आँखों में असुरक्षा का भाव जाग आया था, वह चौकन्ना हो गया था। दोनों हाथ कुहनियों पर टिके थे, हथेलियाँ दोनों तरफ से परांठे पर झुकी जैसे एक तरह का छाता-सा बनाए हुई थीं...गोया कि जितना वह अपने आपको बचाने की कोशिश कर रहा था, उतना ही परांठे को भी। उसकी गोल-गोल मांसल उँगलियों और चेहरे की एक-एक नस फड़क रही थी तब...

वड़े होने, शिक्षित होने और सबसे बड़ी बात नौकरी करने लगने से निश्चित उसमें एक आत्मविश्वास आया है जो जब वह कपड़े पहनकर निकलता है तो उसके जूतों से खटखट बोलता होता है। अपने कमरे में उसने बड़े-बड़े अक्षरों से लिख रखा है—'थिंक बिग'।

उसकी महत्त्वाकांक्षा बड़ा आदमी यानी कि खूब पैसेवाला बनने की है। अकसर वह कहता भी है कि सुख-सुविधाएँ महत्त्वपूर्ण हैं—घर में फ्रिज, वीडियो, टीवी, कार जैसी चीजें होनी चाहिए...मैं आप लोगों की तरह आराम से परहेज नहीं करता। आखिर हम जीते क्यों हैं—इन्हीं आरामों के लिए। वह यह नहीं सोचता कि असली जीवन भौतिक सुविधाओं के पार है...वह यह भी नहीं सोचता कि अपने सपनों के भौतिक जीवन के लिए भी सिर्फ 'थिंक बिग' लिख कर कमरे में टाँग देने से काम नहीं चलेगा...उसके लिए कितनी मेहनत, कितनी तैयारी चाहिए। दफ्तर से आएगा तो नहाकर कुर्ता-पायजामा डाल, वीडियो के सामने पड़ा रहेगा...लुंजपुंज! हफ्ता बीता तो शुक्रवार की शाम नियमित रूप से दोस्त के पास जाएगा...बियर पिएगा, नॉनवैज खाएगा और देर रात आकर सो जाएगा। आगे सोचने की जरूरत ही नहीं महसूस करता भाई...आज का दिन मजे से निकल गया, बस! सुबह खों-खों करता है, बुड्ढे की तरह...पिछली रात को ठंडी बियर और सिगरटें! मुझे दुःस्वप्न आते हैं कि इस ताजा उम्र में ही उसके गले में मोर्चा जम गया है, मोर्चे का लाल रंग काला हो गया है और उसे छील-छीलकर निकालना पड़ रहा है...

सर्विस में आते ही जैसे माँ-बाप से वास्ता खत्म। यही नहीं, उसका रवैया कुछ ऐसा हो गया है कि वह वही करेगा जिससे हमें चिढ़ छूटे। हम निरामिष हैं तो वह सामिष हो गया। कहता है खाने से और धर्म से क्या ताल्लुक। मैंने कहा कि खाने और सोचने का तो ताल्लुक है, तो बोला—वाह! एक पेट की चीज है, दूसरी दिमाग की, और वे शरीर के दो अलग-अलग हिस्से हैं। घर में सामिष नहीं बन सकता तो जब भी कहीं बाहर साथ खाने के लिए जाना हुआ, वह हमेशा सामिष खाएगा...अपनी माँ को दिखाते हुए गोश्त की बोटी कुत्ते की तरह चीथेगा। मुझे बाजार के खाने से नफरत है तो वह अकसर बाजार से सैंडविचेज़ या ऐसा कुछ लेता आएगा और घर में सबके सामने खाने की मेज पर रख लेगा और यह जताते हुए उसे खाएगा कि जो खाना घर में बना है, वह उस सैंडविच के आगे कुछ भी नहीं है।

चभर-चभर खाएगा, ढकोसते हुए पानी पिएगा, बड़ी-बड़ी डकारें लेगा...जिससे आसपास घिन फैले। मैंने किसी पार्टी में जाने से मना किया और होटल के खाने के प्रति उत्साह नहीं दिखाया तो मेरे देहातीपन पर हँसेगा। मैं गरीब परिवार का था, अपने श्रम से ऊपर आया हूँ...इसलिए कुछ आस्थाएँ हैं, मूल्य हैं जिनके सहारे जीवन बिताने में मैं विश्वास करता हूँ...तो वह हर मौके पर उन मूल्यों की खिल्ली उड़ाता होगा, जैसे कि उसी तरह पैसे को सर्वोपरि मानना ही आधुनिक और सभ्य होना है, सादगी से चलना या ऐसी चीजें बेवकूफी के अलावा कुछ नहीं है। उसे हर बात पर अपना विरोध करना ही करना है...और इधर उसके प्रस्तावित ब्याह का मसला तो उसे ऐसा मिल गया है जहाँ वह जी भरकर हमें—विशेषकर अपनी माँ को कलपा रहा है। हम लोग जाएँ, लड़की पसंद करें, शुरू की बातचीत करें। हम पास करेंगे तब वह देखेगा...और वह देखता क्या है, कोई मामूली-सा कारण देखकर प्रस्ताव को फुट्ट कर देगा। कहीं-कहीं मामले को उस बिंदु तक बढ़ने देगा जहाँ हमें लड़की से मोह हो बैठे...उसके बाद वह बेरहमी से काटेगा ताकि लड़कीवालों से ज्यादा हमें तकलीफ हो। उस लड़की में मराठीपन है...वह लड़की माँ जैसी लगती है... उनके यहाँ क्या है—एक मकान तक नहीं...उस लड़की के भाई ने अपनी बीवी को भगा दिया है। जहाँ कुछ नहीं मिलेगा तो बोलेगा, उस लड़की में असाधारण क्या है। एक बार तो मैं भी गुस्से में कह बैठा—"अरे, अपनी तरफ भी तो देखो, तुममें असाधारण क्या है—तीस को छूने आई उम्र, चेहरे पर मुहाँसों के दाग, सफेद होते बाल, नाक से निकलती आउँ-आउँ बोलचाल! क्या असाधारण लड़कियों की ही शादी होती है, और जरा बताओ कि अब तक जितनी लड़कियाँ देखीं, उनमें असाधारण एक भी क्यों नहीं मिली?" कभी कहीं शादी की बातचीत चल ही रही होगी और बीच कहीं उसकी राय ली तो वह बोलेगा—"वह? वह चैप्टर तो क्लोज हो गया!" अरे भाई कब? जनाब ने एकतरफा, मन ही मन 'चैप्टर क्लोज' कर दिया और हम बेवकूफ से इस बीच सिलसिला चलाते रहे। एक बार मैंने काफी तीखेपन से

कहा—"चैप्टर क्लोज करने में है क्या, धड़ से हाथ मारा और किताब बंद...क्रैडिट तो चैप्टर के आखिरी शब्द तक पहुँचने में है और तब तक चैप्टर को खोले रखने में है"...तो मुझे इस तरह देखने लगा जैसे उसने कॉकरोच को अपने जूते से दबा दिया हो और उसे चिकरघिन्नी खाते देख रहा हो!

लेकिन हम ही उसके ब्याह को लेकर इतने चिंतित क्यों हैं—यह सवाल मेरे सामने हर बार आता है और उसके कई जवाब मैंने खुद को और दूसरों को दिए हैं। वह भीरु स्वभाव का है, अपनी बात तक ठीक से नहीं कह पाता, लड़कियों के सामने तो और भी बोलती बंद हो जाती है...ऐसा लड़का अपनी शादी कर पाएगा क्या? जब हम न होंगे तब क्या होगा उसका? और यह संभावना पास है क्योंकि हमारा तबादला होनेवाला है और जिस सरकारी मकान में अभी हम सब एक साथ रहते हैं, वह छोड़ना होगा। आगे जब वह अधेड़ होकर कभी बीमार पड़ेगा तब? इसके जो दोस्त अभी हैं, वे जब अपनी-अपनी बीवियों में डूब जाएँगे तब छड़ा यह कहाँ डोलता फिरेगा! हमारे समाज में अविवाहित व्यक्ति के ऊपर पग-पग पर शक किया जाता है, वह शक परिवार में शुरू ही हो चुका है उसके लिए। जैसे बच्चा कभी नहीं चाहता पर उसे स्कूल भेजने की जिम्मेदारी माँ-बाप पर होती है, जो नहीं भेजते उन्हें कभी माफ नहीं किया जाता, वैसे ही विवाह भी है...

"उन्हें क्या जवाब दूँ?" जब वह परांठा खत्म कर चुका तो मैंने धीमे से पूछा।

"किन्हें?"

"लड़कीवालों को!"

"कौन लड़कीवाले?"

"वही दुबे, जिनकी लड़की हमने पिछले सप्ताह देखी। तुम भी पसंद कर चुके हो।"

"मैं...?" वह ऐसे हँसता है जैसे कह रहा हो—इस पागल को देखो।

"इस बार पहले तुमने पसंद की थी, तभी हम देखने गए थे। तुमने कहा नहीं था?"

"मैंने यह कहा था कि ठीक-ठाक है। पसंद करने के लिए जो इनपुट्स चाहिए, वे कहाँ हैं। कोई इंटरैक्शन नहीं हुआ...मैंटेलिटी पता नहीं।"

"मैंटेलिटी किसी की पता लगाते-लगाते उम्र निकल जाती है, तुम क्या अपनी ही मैंटेलिटी जान सके?"

"फिलॉसफी रहने दीजिए।"

"फिलॉसफी के बगैर जीवन समझा जा सकता है क्या? तुम्हारी पीढ़ी की यही तो दिक्कत है कि फिलॉसफी को खारिज कर रखा है।

"डैडी! आपसे बात नहीं की जा सकती।"

"आपमें भी मेरी बातें समझने की कूवत नहीं है, पर यह मोटी-सी बात तो समझिए कि आप लड़की से अकेले में मिल लिए, उसके साथ रेस्तराँ में खाना खाया...अब और क्या होता है इंटरैक्शन! हमारे समाज में इससे ज्यादा की सुविधा..."

पेश्तर इसके कि मैं जुमला पूरा कर पाता, वह उठ गया, वॉश-बेसिन में मुँह धोया और अपना टिफन बाक्स बैग में डाल, खटखट आफिस के लिए निकल गया।

अधजला मैं पीछे छूट गया। यही होता है—उससे बातचीत चाहे जितना मीठे से शुरू करो, वह कुछ ऐसा बोल देगा कि मैं उत्तेजित हो जाऊँ। फिर मेरा स्वर तेज हो जाता है और हम लड़ने की स्थिति में आ जाते हैं...लेकिन क्या इस डर से बातचीत ही न शुरू की जाए, हमारे बीच कोई संवाद ही न रहे? मैंने शाम को फिर मोर्चाबंदी की और जब वह दफ्तर से लौट, नहा-धोकर इत्मीनान से बैठा था तब उसे घेरा—

"देखो बेटा!" मैंने बात बेहद शांत स्वर में उसे समझाते हुए शुरू की—"तुम्हारे भी बहन है। कल हम-तुम भी उसी स्थिति में होंगे जिसमें आज ये लड़कीवाले हैं। वह लड़की देखने में अच्छी है, हम सबको पसंद है, घर-संसार अच्छा है, कमाती भी है...अब

और क्या चाहिए?"

"क्यों, कितनी चीजें हैं जो नहीं हैं। उसके भाई नहीं है, देखने में साधारण है, रंग गोरा नहीं है।"

"यों क्रिटिकली देखोगे तो सबमें कोई-न-कोई दोष मिल जाएगा।"

"क्यों न देखूँ क्रिटिकली! क्या वे लोग मुझे क्रिटिकली नहीं देखते? आप लोगों के लिए शादी एंड है, मेरे लिए वह बिगनिंग है। आप लोग तो शादी करके हाथ झाड़ लेंगे। मेरी तो पूरी जिंदगी का सवाल है!"

"तुम्हें अगर कोई पसंद है तो बेशक उससे कर लो...हम तैयार हैं लेकिन जहाँ परिवार द्वारा संबंध तय होते हैं वहाँ प्रस्ताव को सकारात्मक ढंग से देखना चाहिए।"

"आप लोगों को हर रिश्ता पसंद आ जाता है। आप डेस्पैरेट होकर कहीं भी कर लेना चाहते हैं। मैं कोई लड़की नहीं हूँ। आप पर भार भी नहीं हूँ। अपना कमाता-खाता हूँ।"

"जो यह मेरी पत्नी तुम्हारे लिए खाना पकाती है, तुम्हारे कपड़े सिलती है, धुला-धुलाकर इस्तरी करके तुम्हारी अलमारी में रखती है..."

"अगर वह आपकी पत्नी है तो मेरी भी माँ है।"

"बिलकुल तुम्हारी माँ है...लेकिन उसी तुम्हारी माँ के तुम्हारा घर बसा देखने के ख्वाब हो सकते हैं। तुम्हें उसके लिए कुछ करने की भी सोचना चाहिए कभी-कभी। हमने तो तुम्हारे लिए किया..."

"मुझ पर कोई मेहरबानी नहीं की। जो बच्चे पैदा करते हैं उन्हें करना होता है, सब करते हैं।"

मैं निरुत्तर...यह तर्क काफी सुना हुआ था, बंबइया फिल्मों का पैट डायलॉग। मैंने कमान दूसरी तरफ से सँभाली—

"देखो बेटा, शादी की एक उम्र होती है।"

"कोई उम्र-वुम्र नहीं होती। एक नवीन के चाचा हैं जो कहते हैं—नवीन, तुम चिंता न करो। जब तक तुम्हें ऐसी लड़की नहीं मिल जाती जिससे सौ फीसदी तुम हैप्पी हो, कोई जरूरत नहीं है शादी

करने की।''

''नवीन से तुलना क्यों करते हो?''

''क्यों न करूँ?''

''उनके यहाँ अनाप-शनाप पैसा है। वहाँ हर चीज पैसे पर ही तौली जाती है।''

''तो हमारे यहाँ क्यों नहीं है, नहीं है तो कल हो जाएगा। मैं कमाऊँगा।''

''नवीन चार भाई हैं। एक अविवाहित भी रह गया तो कोई बात नहीं।''

''तो मैंने शादी न की तो कोई पृथ्वी इधर से उधर नहीं होने जा रही।''

''ठीक है तो तुम भी सुन लो। अविवाहित ही रहना है तो तुम्हारे लिए कहीं एक कमरा काफी है। अपने रहने के लिए समाज से बड़ा घर न माँगो। जो घर हमने बनवाया कि उसमें हमारे लड़का-बहू, उनके बच्चे रहेंगे, उस घर की तुम्हें जरूरत नहीं है। तुम्हें आवारागर्दी ही पसंद है तो कहीं अपना इंतजाम कर लो...''

''यह तो ब्लैकमेल है।''

''ब्लैकमेल तुम कर रहे हो। इकलौते लड़के होने का फायदा उठा रहे हो, हमारा शोषण कर रहे हो। हमारे घर में क्यों रहते हो?''

''क्यों न रहूँ...क्या कोई अपने माँ-बाप के घर नहीं रहता?''

''यही तो तुम लोग चाहते हो—माँ-बाप या किसी की खोपड़ी पर जिंदगी भर रहना, अपना घर न बसाना...क्यों जिम्मेदारी उठाई जाए, जब हम जैसे बढ़िया नौकर तुम्हें उपलब्ध हैं। पर बड़े भाई, हम इतने बुद्धू नहीं हैं। एक बार फिर से और अच्छी तरह से सुन लो। जो मकान हमने बनवाया है, वह तुम्हें नहीं मिलेगा। तुम अगर सोचते हो कि उसे लेकर, बेच-बाचकर मौज-मस्ती मारोगे तो तुम्हें यह करने का मौका नहीं मिलेगा।''

''रखे रहिए आप अपना मकान, मुझे नहीं चाहिए।''

''यह भी कान खोलकर सुन लीजिए। एक महीने के अंदर-अंदर

अपने रहने का इंतजाम बाहर कहीं कर लीजिए। जब हम कुछ नहीं हैं तुम्हारे, तो तुम्हारे यहाँ रहने की जरूरत भी नहीं है।"

"हाँ-हाँ, कर लूँगा। मैं खुद नहीं रहना चाहता वहाँ, जहाँ हर समय दम घुटता हो।"

"तो तुम्हें रोक किसने रखा है। आटे-दाल का भाव मालूम हो जाएगा जब बाहर निकलोगे...आसान नहीं है..."

मेरा गला थक आया था, फिर भी आवाज तेज होती चली गई। तबीयत हो रही थी कि उसे पकड़कर तड़ातड़ चार हाथ इधर से, चार उधर से लगाऊँ—

"अरे गधों!"—मैं स्वयं को रोकना चाहते हुए भी बोले चला जा रहा था—"तुमने बस एक ही चीज आसपास देखी—पैसा! और कुछ देखने से इनकार करते हो। वह लियाकत ही हासिल नहीं की कि कुछ और दिखाई दे—पढ़ाई सिर्फ उतनी ही जिससे नौकरी मिल जाए। जरा सोचो—ये सब लड़कियाँ वैसी ही हैं जैसी हमारी लड़की। कुछ तो उससे भी बेहतर हैं और तुम्हें सबमें खामियाँ दिखाई देती हैं। तुम जो सौ फीसदी अच्छी लड़की की तलाश में हो तो अगर वह मिल भी गई तो वही तुम्हें खारिज क्यों न कर देगी...क्या तुम्हीं सौ फीसदी हो...?"

वह तनतनाता हुआ उठा, गुस्से में मिसमिसाता, हाथ कुछ पकड़ने को छटपटाते, जैसे उस समय उसके हाथ में अगर कुछ आ जाता तो वह तड़ से फेंककर मुझ पर मारता। गुस्से में भुनुर-भुनुर करता हुआ वह अपने कमरे में चला गया—और भड़ से किवाड़ मारकर दरवाजा बंद किया...जैसे वह किवाड़ नहीं था, मैं था।

"गेट आउट..." मैं पूरी ताकत भर पीछे से चिल्लाया—"संतान इस दिन के लिए पालते हैं लोग? निकल जाओ मेरे घर से..."

बचपन में मैंने अपने गाँव में एक बाप-बेटे का झगड़ा देखा था। बाप अपने घर के चबूतरे पर से गरिया रहा था—शरीर में सिर्फ धोती, ऊपर नंगा बदन। बेटा कोई पचास गज़ दूर सामने किसी पड़ोसी के चबूतरे से। दोनों गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहे थे। एक से एक

गालियाँ जो तब मेरी समझ में नहीं आती थीं। दोनों के चेहरे लाल थे...कि तभी बेटे ने लपककर सड़क से एक बड़ा ढेला उठाया और बाप की तरफ चला दिया, बाप की धोती के ठीक ऊपर—पेट के एक किनारे लगा, वहाँ लाल-लाल एक चकत्ता फौरन उछल आया। बाप गरियाना छोड़कर एकदम बिलबिलाकर रोने लगा था...पत्थर की चोट से ज्यादा मानसिक आघात कि बेटे ने मारा...वह भी मार सकता है! लड़का तत्काल उस जगह से खिसक लिया था।

वह कमरे में बंद तो मैं उसकी जगह पत्नी पर बरस रहा था—"जब तक वह यहाँ रहता है, उसके खाने-पीने का कोई ध्यान देने की जरूरत नहीं है। अपने कपड़ों का इंतजाम वह खुद करे। दस बजे रात के बाद अगर घर आए तो दरवाजा न खोला जाए...देखें कितनी रातें नवीन के घर बिता सकता है। और इस एक महीने भी जो वह इस घर में रहने वाला है, उससे बातचीत एकदम बंद...वह यह समझ ले कि हमारे घर उसकी हैसियत पेइंग-गेस्ट से ज्यादा की नहीं है। अरे, पेइंग-गेस्ट तो फिर भी कुछ देता है, यह शख्स तो उलटा लेता है...हमारा खून।"

अकसर मुझे लगता है कि जंग मेरे और मेरे लड़के के बीच नहीं, मेरे और मेरे पिता के बीच चल रही है। मेरा पिता मुझसे बदला ले रहा है।

माँ को बुढ़ापे में आराम मिले, यह सोचकर मैं माता-पिता दोनों को उनके कस्बेवाले घर से अपने यहाँ ले आया करता हूँ। पिता को खराब लगता है कि माँ को यहाँ कुछ काम नहीं करना पड़ता, उलटे हँसने-बोलने, ताश खेलने को लड़का-बहू हैं। वे दोनों कस्बे में अकेले रहते हैं। वहाँ सारा काम माँ करती है तो पिता को तसल्ली रहती है कि माँ का पूरा ध्यान उनकी तरफ है। पिता का बस चले तो वह कस्बा कभी न छोड़ें, लेकिन मेरी बातों में आकर और कुछ दिनों के लिए तब्दीली हो जाएगी—यह खयाल कर चले आते हैं और यहाँ आकर फँसा हुआ महसूस करते हैं। आने के एक हफ्ते के भीतर ही जाने की रट लगाना शुरू कर देते हैं—बहस करते हैं, लड़ते हैं, बीमार बनते हैं, कराहते हैं। रोज-रोज एक ही धुन—"हमें जाना,

हमें अपने घर जाना..." मैं तंग आ जाता हूँ। उन पर तेज पड़ता हूँ, बराबरी से वे बिगड़ते-झगड़ते हैं, मैं गिनाने लगता हूँ, वे अत्याचार जो उन्होंने माँ पर किए—"माँ पर जीवन भर लात-घूँसे बरसाए और बुढ़ापे में भी चाहते हो कि वह तुम्हारी सेवा के अलावा कुछ न करे। अपने जीवन में अत्याचार बरसाने के अलावा तुमने किया क्या"—उनके जीवन का सब कुछ धो डालता हूँ एक तरह से, तो वे बौखला उठते हैं। यह क्रम बार-बार चला है और इसलिए मेरे और पिता के बीच वैमनस्य की गाँठ जम चुकी है। वे मुझसे बात करना पसंद नहीं करते। एक बार ज्यादा बतबढ़ हो गई थी तो वे चिल्लाकर बोले थे—"ठीक है, मेरा बुढ़ापा है, तू खूब सता ले...पर याद रख, काल किसी को नहीं छोड़ता। वह समय आएगा जब तेरा लड़का तेरे सामने खड़ा होगा..."

इत्तिफाक या कि क्या कि जब मेरे पिता का विवाह हुआ था, तब वे भी लगभग इसी उम्र के थे जिसका मेरा लड़का है। विवाह हुआ तो माँ पिता से हर माने में बीस—देखने-सुनने, पढ़ाई-लिखाई से लगाकर कस्बे की लड़की होने तक। अपनी ससुराल गाँव में न रहकर वे मायके आ गईं। अब यहाँ माँ की तरफ उनके दूर-दूर के रिश्तेवाले भी थे...इधर पिता अकेले। सभी माँ का पक्ष लेते, पिता को नीचा दिखाते। कितने दिनों तक उन्हें माँ के साथ इसलिए नहीं रहने दिया गया कि उनके पास न घर था, न उस शहर में कोई काम-कमाई। माँ अपने माँ-बाप के पास रहतीं, अपने एक रईस रिश्तेदार की रसोई में हाथ बँटातीं, छोटे बच्चों को खिलातीं...और अपनी उम्र के लड़कों के साथ खेलती-कूदतीं। पिता बाहर किसी मंदिर में पड़े यह सब देखते कुढ़ते रहते। कुछ बोलते तो उस बड़े घर के लड़के उनका तरह-तरह से अपमान करते, कभी-कभी तो हाथ भी उठा लेते।

पिता के साथ गरीबी तो बचपन से ही लगी थी, अब विवाह के बाद मानसिक आघात...एक के बाद एक। हीनभावना तह-दर-तह उन पर जमती चली गई। वे मीठा बोलना भूल गए, क्रोधी और

हिंसालु स्वभाव हो गया। जरा-जरा सी बात पर माँ और बच्चों को बेरहमी से मारना, किसी को भी उलटा-सुलटा बोल देना, हर पर शक करना, अलग-थलग रहना...यही रहा उनका जीवन। शादी के शुरू-शुरू के दिनों अबोधावस्था में माँ से जो उनकी उपेक्षा हुई, उसका बदला वे ताजिंदगी निकालते रहे, आज भी माँ को सताने का कोई मौका नहीं चूकते। यही वजह है कि इस उम्र में माँ का थोड़ा-बहुत आराम उनसे देखा नहीं जाता। मैं माँ का खयाल करता हूँ इसलिए पिता का दुश्मन हूँ।

मेरा लड़का, पिता की ही तरह घुप्पा, अलग-थलग रहनेवाला, गुस्सैल, हर चीज को नकारात्मक ढंग से लेनेवाला निकला है...ज़ैसे पिता के 'जींस' मेरे ऊपर से कूदकर मुझे पीछे छोड़ते हुए मेरे लड़के में प्रवेश कर गए हों। मुझे अकसर दहशत होती है कि हीन भावनाएँ अगर इसमें भी धँसती चली गईं...पिता की छोटी-छोटी आँखों में बराबर दबी हुई आग रहती है, जरा से झोंके पर स्फुलिंग छूटने लगते हैं। वे हर किसी बात पर अपमानित महसूस करने लगते हैं। हारे हुए कुत्ते की तरह वे जीवन भर दर-दर चीथे जाते रहे, पर बराबर गुर्राते रहे—हर शिकस्त को झाड़कर चलते रहे, कभी लड़ने से बाज न आए। आज अस्सी वर्ष की उम्र में भी उनका वही रवैया है...कैसी भी स्थिति में किसी से भी भिड़ जाएँगे...अभी कुछ दिनों पहले मेरे यहाँ से माँ के साथ अपने कस्बे को लौट रहे थे। वहाँ प्लेटफॉर्म से निकलते हुए उन्हें लगा कि आगे चल रहा लड़का उन्हें रास्ता नहीं दे रहा। वे अपनी छड़ी उसकी पीठ पर गोंचने लगे, गोया कि वह लड़का नहीं बैलगाड़ी में जुता बैल था। लड़के ने पलट कर इनकी छड़ी छीन ली और इन पर दो-तीन जड़ दीं। माँ को बीच-बचाव करना पड़ा...

क्या मेरे लड़के की नियति यही है। वह यह होगा...कर्कश, गुस्सैल ...करीब-करीब हिंस्र पशु?

लड़के से मेरी बातचीत बंद है। हम एक-दूसरे का सामना करने से कतराते हैं...जैसे दो बैल एक-दूसरे के बल का अंदाजा लेने के

बाद थोड़ी देर को बस सींग उलझाए खड़े रहते हैं, आखिरी लड़ाई के लिए स्वयं को तैयार करते हुए। मैं खुद को समझाने की कोशिश करता हूँ कि वह मेरा कुछ नहीं लगता...लेकिन सारी मुश्किल तो यही है कि इस बात को किसी तरह नहीं झुठलाया जा सकता कि वह मेरा लड़का है।

बचपन उसका अकेला रहा था। उसमें और उसकी बहन में नौ साल का फासला है। बीच में हमारी एक बच्ची हुई थी जो छह माह में ही गुजर गई। यह तब चार साल का था और हम इसे अपने माँ-बाप के पास उनके कस्बे के मकान में छोड़ आए थे...उसके दादा-दादी की आत्मीयता के संपुट में। वह दादा-दादी में रमने लगा कि उसे फिर उखाड़ दिया गया—बच्ची के गुजरने के बाद खालीपन भरने के लिए हम इसे वापस ले आए। मैं सोचता था कि उस हादसे का कोई असर इस पर नहीं पड़ा होगा—अपनी उस बहन को इसने देखा तक नहीं, उसका आना और इतनी जल्दी जाना तब इसके लिए बेमानी भी रहे होंगे...लेकिन बड़े होकर जब इसने फोटो देखे होंगे तो खरोंचे उभर आई होंगी, जिंदगी छोड़ती है क्या किसी को...वह कौन थी जिसके आते ही उसे माँ-बाप से दूर हटा दिया गया? दुनिया जिसमें उसने आँखें खोलीं, कितनी मतलबी! माँ-बाप जिसे ममता की मूर्ति कहते हैं, उन्होंने, उसका इस्तेमाल किया—पहले वह माँ-बाप के पास था, बच्ची आई तो हटा दिया गया, वह गई तो फिर बुला लिया गया! वह एकाएक चली गई...कैसे, कहाँ? वह गई तो उसे उस छोटी-सी उम्र में ही एक बड़ी चुनौती के सामने खड़ा करके—उन गड्ढों को भरना जो माँ-बाप में बच्ची के जाने के बाद उभर आए थे। बचपन से ही इतना बोझ!

उन दिनो मैं अपने एक मामाजी को भी अपने साथ रखने ले आया था। नाटे, काले-कलूटे, दुबले-पतले, चेचक के दागों से भरा खुतैला चेहरा...वे उन लोगों में से थे जिन्हें ईश्वर कुछ नहीं देता। मामाजी को एक अदद पत्नी और प्राइमरी स्कूल की मास्टरी—ये भर मिले थे। पत्नी अपने गाँव के ही एक मुंस के साथ लग ली।

वे दोनों मिलकर मामाजी को सताते, रुपए ऐंठने के लिए धमकाते-डराते। लगातार इस सबमें रहने के कारण मामाजी के भीतर दहशत बैठ गई थी। मैं उन्हें छुट्टी लिवाकर अपने साथ ले आया था—शायद कस्बे से दूर हो जाने पर उनका डर कम हो...लेकिन नहीं, यहाँ भी अगर मामाजी हवाई जहाज देखते तो उन्हें लगता कि उनकी पत्नी और उसके यार ने उनके ऊपर गोले बरसाने के लिए भेजा है। मामाजी को व्यस्त रखने के लिए मैंने यह सिलसिला बैठाया कि वे मेरे इस चार साल के बच्चे को खिलाया करेंगे...लेकिन उनके मार्फत कितनी तरह के भय उस छोटे से जीव में उतर रहे होंगे...इसकी तब मैं कल्पना भी नहीं कर सका था। बच्चों की परवरिश के मामले में एक गलतियाँ वे होती हैं जो जरूरत से ज्यादा सावधानी करनेवाले माँ-बाप से होती हैं, तो एक हमारे जैसे होते हैं जो यह सोचते हैं कि कुछ न सोचो, प्रकृति हर तरह के प्रभाव-कुप्रभाव का एक उम्दा स्वास्थ्यवर्द्धक घोल-मेल बना ही देगी, जैसा कि मुझमें बना दिया। माना कि उसकी परवरिश ठीक नहीं हुई, पर क्या मेरी परवरिश ठीक हुई थी, किसी की होती है? यह क्या सदा हमारे हाथ में होता है कि बच्चों को ठीक उस तरह ढाल लें जैसा हम सोचते हैं, कुम्हार पहिए पर जो चाहे बना ले—कुल्हड़, सुराही, घड़ा...

मामाजी और इसका साथ चंद महीनों ही रहा। उनकी रखवाली कोई कब तक, कहाँ तक करता। वे लौटे तो फिर वही हाल! धीरे-धीरे करके पत्नी और उसके यार ने उनकी नौकरी छुड़वा दी, फंड का पैसा हड़प लिया और पुश्तैनी घर बिकवा-बिकवू कर फरार हो गए। मामाजी कुछ दिनों तक बदहवास से कस्बे में डोलते रहे, फिर एकाएक वे भी गायब हो गए। सालों बाद किसी ने उन्हें उसी गाँव के मंदिर में पूजा करते देखा जहाँ बस्ती में विवाहितों की तरह उनकी पत्नी और उसका यार रहते थे। वहाँ से हटाने की बहुत कोशिश की गई पर उनका जो कुछ भी था जैसे पत्नी के इर्द-गिर्द ही था, वह जैसे भी थी! ऐसे लाचार हो गए थे कि उसी मंदिर से चिपककर रह गए, वरना घोर बुढ़ापे में भी लोग भाग जाते हैं, भागकर भीड़ में खो

जाते हैं। अभी कोई दो साल पहले ही खबर मिली कि मामाजी मर गए...जब बात चल रही थी तो मेज पर यह भी बैठा था, तेईस साल का युवक! 'एं! छुन्न् मामा मर गए?' भीगा-भीगा उसके मुँह से निकला। उसकी नजरें खिड़की के पार आसमान के पार फैले कुहासे को भेदती रही थीं, अगले कई क्षणों तक...

उसकी आँखों में तब वे ही रंग उतरा आए थे जिन्हें मैंने पहली बार देखा था जब यह पाँचवीं जमात में था। मैं किसी काम से इसके स्कूल गया था। इंटरवल था, बच्चे अपना खाना खत्म करके इधर-उधर खेल रहे थे। यह अलग-थलग बैठा उन्हें देख रहा था। नजरों में न उत्साह, न निराशा, न खुशी, न अफसोस! सिर्फ खालीपन, उदासीनता। छोटे-से चेहरे पर वह भाव! उस दुनिया के लिए जिसमें वह नया-नया आया था...मैं सहम गया था। उसके पास जाकर उसका ध्यान आसपास की सुंदर चीजों की तरफ खींचता रहा, उसे दूसरे बच्चों के साथ खेलने, घुलने-मिलने के लिए उकसाता रहा था...

आज भी मैं यही चाहता हूँ कि उसे किसी तरह असामान्य न बनने दूँ, विवाह करके उसे सुरक्षित कर दूँ...लेकिन यह सुरक्षा की बात ही उसे अपनी सबसे बड़ी असुरक्षा लगती है। उसे लगता है जैसे हम जान-बूझकर उसे और कस देना चाहते हैं...वह जो अपने माँ-बाप, इस घर से पहले से ही जकड़ा हुआ है। मेरे माँ-बाप ने मेरा विवाह बीस साल की ही उम्र में कर दिया था, उस लड़की के साथ जिसे उन्होंने पसंद किया था और मैंने देखा भी नहीं था, पर वह हमारी पीढ़ी थी। मैं स्वयं को बराबर यह सांत्वना देता रहा कि माँ-बाप देवता हैं और उनके मन का करना मेरा कर्तव्य है...फिर भी तब मुझे बराबर यह लगता था जैसे मेरे पंख काट दिए गए हों। क्या यह मेरा लड़का दरअसल मैं हूँ...बाईस साल आगे पैदा हुआ मैं? जो मैं नहीं कर सका, वह यह—मेरा नया जन्म—कर रहा है। ब्याह के मामले में मैं माता-पिता की इच्छा के आगे इस आसानी से कट गया था जैसे माँझे की डोर से सद्दी की डोरवाली पतंग कट जाती है। अब जैसे कटनेवाली पार्टी ने फिर अपनी पतंग

चढ़ाई है पेंच लड़ाने को...

जंग जारी है।

युद्ध में एक मुकाम वह आता है जब सब कुछ कन्फ्यूज्ड हो जाता है—हम किससे लड़ रहे हैं, क्यों लड़ रहे हैं, लड़कर क्या हासिल करना चाहते हैं। मुझे नहीं मालूम कि जो सामने है—यह मेरा लड़का. ..मेरा मुकाबला इससे है या इसमें बैठे मेरे पिता से? पिता में भी क्या इसी तरह कोई घुसा होता था और मेरा उनका झगड़ा दरअसल उनसे नहीं, किसी दूसरी शख्सियत से था जिसे मैंने देखा तक नहीं। यह भी साफ नहीं कि कौन किस चीज का बदला किससे ले रहा है। मैं लड़नेवालों में हूँ या सिर्फ कुरुक्षेत्र हूँ जहाँ लोग भिड़े हुए हैं। मेरा लड़का और मैं सिर्फ वह हैं जो दिखते हैं या जैसे उसमें मेरा पिता बैठा है, मुझमें मेरे दादा घुसे बिराजे हों। मेरे और मेरे लड़के की इस जंग में ही कहीं मामा और उनकी स्त्री की, मेरी माँ की मेरे बाप से जंग चल रही है। मेरे लड़के में कितनों का घोल है—मेरे पिता, उनके पीछे जो जा चुके उनमें कौन-कौन...और उस घोल में कहीं मैं भी हूँ तो क्या मेरे और मेरे बेटे की लड़ाई दरअसल मुझसे मेरी लड़ाई है?

ऐसे में बेटे के विवाह की इच्छा और भी बलवती हो जाती है कि कर्कशता की इस जमीन के किसी चौखटे में कुछ कोमलता तो उगे...हमारी इस कमबख्त नस्ल के बाहर का कोई आए और कुछ दूसरे जीन्स यहाँ उतारे, जो फासले हमारे बीच उग आए हैं उन्हें कोई आकर पाट दे...

इस दरम्यान मैंने देखा कि जिस लिबास से मैंने खुद को ढक रखा था, वही चिथड़ा-चिथड़ा हो गया है। मुझे दिखाई दिया कि दरअसल मैं ही ठीक से नहीं गढ़ा जा सका...बचपन में या कि आगे। मेरा व्यवहार कतई सामान्य नहीं है। अपने लड़के से बात करते हुए मैं अपना संतुलन नहीं रख पाता—दो मिनट में ही उत्तेजित हो जाता हूँ, स्वर तेज हो जाता है, गले की नसें फटती होती हैं...जैसे धूल निकलती होती है गले से, फिर भी बोले चला जाता

हूँ, बोले चला जाता हूँ...पहले भर्राती, बाद में फटती हुई आवाज। जैसे दूसरे अपनी बीवी-बच्चों को प्यार करते हैं, मैं नहीं कर पाता, भीतर से प्यार करता भी होऊँ तो जाहिर तो बिलकुल नहीं कर पाता। जब परिवार में लिप्त होने लगता हूँ तो लगता है यह रास्ता कहीं नहीं ले जाएगा—आप जिनके लिए मर-खप रहे हैं, उन्हें इसकी शतांश प्रतीति भी नहीं दे सकते। हमारी कोशिश यहाँ सबको खुश रखने की है और एक को भी खुश रखना तो दूर...संतोष तक नहीं दे सकते। जीवन की प्राप्ति अगर कहीं है तो निजी रास्ते में है—इसलिए मैं चल पड़ता हूँ। उधर से निराश होकर फिर परिवार की ओर लौटता हूँ। यही करता रहा जीवन-भर।

वह क्या था कि तीस साल से ऊपर परिवार में रहते हुए भी मैं घरेलू व्यक्ति नहीं बन पाया? पिता भी नहीं बन पाए थे पर उन्हें एक सुविधा थी। वे गाँव में अध्यापक हो गए थे और माँ कस्बे में अध्यापिका। दोनों के अलग-अलग कार्य-क्षेत्र थे। पिता छुट्टियों में ही घर आते और लड़लड़ाकर अकसर छुट्टियाँ खत्म होने के पहले ही गाँव लौट जाते। यही रहा। मजबूरी जो नौकरी की वजह से उनकी हो चुकी थी, उसकी मदद से जीवन खिंच गया...दोनों लोग परिवार में भी, पर अलग भी...अलग अपने-अपने घेरे में सुख-चैन या जो भी कुछ ढूँढ़ने को स्वतंत्र। अब जब से वे साथ रहने को बाध्य हैं तो पग-पग पर खड़-खड़ है...लेकिन अब भी एक मजबूरी है जो निबाहने में मदद कर रही है—बुढ़ापा। मुझे ऐसी सुविधाएँ नहीं मिलीं—पत्नी नौकरी नहीं करती, बुढ़ापे जैसी कोई मजबूरी भी हमारे साथ नहीं है। तो मैंने ऐसा बनाया कि बीच-बीच में भाग लो, जाकर कहीं अकेले पड़ रहो और उस वक्त वह करो जो करना चाहते हो और जो परिवार तुम्हें करने नहीं देता। मैंने एक सूटकेस रख लिया है जिसे खुद से चिपकाए मैं जब कभी भाग लेता हूँ...उस वक्त मैं महसूस करता हूँ जैसे मैं किसी परिवार-अरिवार का नहीं हूँ, संसार में आया एक अलग जीव हूँ। मेरी कुछ निजी प्राप्तियाँ हैं, लेकिन एक बार इससे भिड़ने में ही मेरा सूटकेस खुल गया...जिसमें दौलत

भरी होने की कल्पना थी, लोगों की और मेरी भी...उसमें निकले कुछ फटे-पुराने कपड़े, कुछ किताबें, कुछ पुरानी तस्वीरें, मालाएँ सूखे फूलों की, जंग खाए गुरियों की...और कुछ नोट्स जो मेरी संभावनाएँ थीं...जो हो सकती थीं और नहीं भी हो सकती थीं। जीवन भर की संपदा इतनी-सी! प्राप्ति जैसे परिवार में रहकर कुछ नहीं, ऐसे ही बाहर भी...

"तुम मुझे परिवार की तरफ ढकेल रहे हो"—वह जैसे चीख-चीख कर कह रहा था—"पर तुम्हीं क्या कर सके, न परिवार के हुए, न परिवार के बाहर ही रह सके। और तुम्हारे बाप का किस्सा क्या है, बाप के बाप का, और उसके भी बाप का..."

वह मैंने अनसुना कर दिया, लेकिन तभी कुछ और सुनाई देने लगा, जैसे वह कह रहा था—"तुम मुझे एक लड़की के हवाले करके अपने दायरे से निकालने की व्यूह-रचना कर रहे हो। एक बार तब निकाला था जब मैं चार साल का था। पुरानी साजिश है, लेकिन मैं अब समझने लगा हूँ।"

बड़े भाई! वह साजिश नहीं, गलती थी, भयंकर भूल। और उसकी सजा हमें मिल गई कि अपने इकलौते बेटे से ही हमारा वार्तालाप नहीं रहा, लेकिन बदले की आग में तुम जो कर रहे हो, वह तुम्हारी आगे आनेवाली जिंदगी पर कहर बरसाएगा। एक पीढ़ी के लिए किए का फल यों तीसरी पीढ़ी को भुगतना पड़ता है।

वह क्या करे! यह उसकी पीढ़ी की त्रासदी है कि अपने माँ-बाप की मर्जी से विवाह करने में खुद्दारी पर चोट आती है और पश्चिम की 'डेटिंग' जैसी सुविधाएँ हमारे समाज में अभी तक उतरी नहीं कि जिसके रास्ते लड़के-लड़कियाँ अपने मन के साथी ढूँढ़ सकें। बीच कहीं फँसे हैं बेचारे! उसकी पीढ़ी बौद्धिक ज्यादा है, हर चीज को पहले ही खूब परख-तौल लो, ताकि रिस्क न रहे! वे कुछ भी 'चांस' पर नहीं छोड़ना चाहते। बुद्धि पर ज्यादा भरोसा, तो बुद्धि फिर नचाती है, जैसे वह मेरे इस लड़के को नचा रही है। जो वह मुझ पर चोट करता रहा है तो यह उसकी उम्र का तकाजा दिखता है—जब बेटा

अपने बाप के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर आने की कोशिश करता है...जैसे अंडा चटकता है, फूटता है और धीरे-धीरे नया पक्षी अपने को उस खोल से अलग करता हुआ बाहर आता है। वैसा ही घर्षण, वैसी ही हिंसा! लेकिन फिर वह अलग जाकर क्यों नहीं रहता...

"भाई!" अर्से बाद मैं उससे बोला होऊँगा, शांत स्वर—"क्या सोचा तुमने रहने के लिए? अगर तुम्हें अपने मामलों में हमारा दखल पसंद नहीं तो तुम्हें हमसे अलग रहना चाहिए, पूर्ण स्वतंत्र होंगे! क्या तुम ऐसा नहीं सोचते?"

वह चुप रहा तो मैंने आगे कहा—"एक उम्र के बाद माँ-बाप से अलग जिंदगी का सिलसिला शुरू कर देना चाहिए, जैसी भी जिंदगी तुम चाहते हो।"

"किराए के घर, पेइंग गेस्ट एकोमोडेशन देख रहा हूँ...लेकिन कहीं जगहें बहुत महँगी हैं—सारी तनख्वाह कमरे के लिए दे दूँ तो खाऊँगा क्या, कहीं इतनी दूरी है कि आने-जाने में ही सारा समय निकल जाएगा।"

उसकी आँख लाचारी में नम हो आई थी—वह चाहता है झकझोर कर बाहर निकल लेना, अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को महसूस करना, पूरा का पूरा...लेकिन...फिर मेरे सामने आ गए वे रंग जो इसकी आँखों में तैरते दिखे थे जब यह पाँचवीं जमात में था और मैं उसके स्कूल एकाएक पहुँच गया था।...निःस्पृहता, वितृष्णा, उदासीनता... वीतरागी रंग...तब जब उसका जीवन खुल रहा था। मुझे तकलीफ हुई थी, लेकिन उससे ज्यादा तकलीफ आज हो रही थी...

प्यारे बेटे! तुम स्वतंत्र हो अपने जीवन के मामले में...जीवन जो बेटे को माँ-बाप की देन नहीं, ईश्वर की देन है। जब हम अपने जीवन को ही जिधर चाहें, उधर नहीं हाँक सकते तो दूसरे के जीवन को कैसे कर सकते हैं। सिर्फ इसलिए कि मेरे अहं को ठेस पहुँचाई गई है, मैं उस धर्म से विचलित नहीं होऊँगा जो प्रकृति ने पिता के लिए तय किया है, बनाना...अपने लिए नहीं, आगे की पीढ़ी के लिए। उन्हें देना...हर हाल में देना! हम तो गुजर जाएँगे...और यह

सारी बात कि कौन मेरा लड़का है और मैं किसका पिता—यह भी हवा हो बह जाएगी...पर पिता का धर्म रहेगा। मुझे उस धर्म को विरूपित करने का कोई अधिकार नहीं है।

"घर जो हमने बनवाया है", मैंने कहा, "उसे मुझे बाँध तो ले नहीं जाना...तुम्हीं लोगों के लिए है। तुम चाहो तो वहाँ रह सकते हो। जैसी भी जिंदगी तुम अपने लिए चाहते हो, उसकी शुरुआत वहाँ करो।"

उसकी आँखें सहसा चमकने लगती हैं।

हवाबाज़

मेरी तैनाती राजधानी में हुई थी। राष्ट्रपति भवन के आजू-बाजू जो दो भीमकाय इमारतें खड़ी हैं, प्रशासन के स्तम्भ-सी, उन्हें सचिवालय कहते हैं। इन्हीं में से एक के, एक उपेक्षित से कोने में मुझे बिठा दिया गया था। इन विशाल इमारतों से सारे देश का शासन चलाया जाता था। यहाँ किसिम-किसिम के अफसर अपनी श्रेणियों के अदृश्य तमगे अपनी-अपनी पेशानियों पर चिपकाए दिन भर इधर से उधर होते रहते थे...सब अलग-अलग तरह से एक ही भुलावे से पीड़ित कि वे ही हैं जो देश को अपने कंधों पर उठाए हुए हैं। यों कार्यालय का समय 9.30 बजे से लेकर 5.30 बजे शाम का था, पर कुछ जो अपनी महिमा से ज्यादा ही मंडित थे या कि वे जिन्हें काम करने, मतलब कि फाइलें शुरू करने, चलाने, दौड़ाने, बीच से कहीं खींच देने...यहाँ तक कि जरूरत हुई तो गायब कर देने...इस सबका नशा था, वे आधी-आधी रात तक बैठते थे। इन अफसरों के कारनामों पर लगातार नजर रखते हुए यहाँ अगल-बगल के पेड़ों पर बंदरों की एक बड़ी सेना पैदा हो गई थी। बंदर दिन भर तो पेड़ों पर रहते लेकिन साढ़े पाँच बजते ही दाखिले दफ्तर हो जाते, इधर-उधर गैलरियों में बेधड़क घूमते, कमरों में घुस जाते। उनकी निडर चाल और धाकड़ तेवर से साफ दिखता था कि वे लोगों को निकालने आए हैं..."चलो हटो अब, दिन भर तुमने राज किया अब हमारी बारी है। तुम क्या तमाशेबाजी करते हो हमने देख लिया, हम भी यह सब कर सकते हैं।" बंदर तंग दरवाजों के बीचोंबीच बैठ जाते

और आदमियों को आते देखकर भी टस-से-मस न होते, उन्हें कपड़ों से छूते हुए गुजरना होता। यहाँ इस तरह के वाकयात आए दिन होते रहते थे—किसी का टिफिन बॉक्स बंदर ने छीन लिया, बक्सा जब खाली मिला तो उसे एक झापड़ मारा, एक के हाथ से फाइल छीन ली, और उसके देखते-देखते फाड़ डाली। एक सचिव महोदय की टाँग पकड़ ली, डर के मारे उन्होंने दरवाजा बंद करना चाहा तो एक टाँग बाहर एक भीतर। तब से एक डंडाधारी चौकीदार की उन्हें बाहर कार तक पहुँचाने की ड्यूटी लगा दी गई। एक अफसर पर बंदर ने बाकायदा दाँत गड़ा दिए, तो उसे जाने कितने इंजेक्शन लेने पड़े।

मुझे सरकारी मकान चाहिए था, जो मैं सोचता था आपसे आप मिल जाएगा...लेकिन जब से दिल्ली में अपने लोगों का शासन हुआ है तभी से यहाँ हर चीज में सोर्स का बोलबाला बढ़ता चला गया है। आज सोर्स के आगे रिसोर्स यानी पैसा भी जुड़ गया है...जी हाँ, सरकारी अफसर, कर्मचारी अपने ही साथियों से ऐंठने से बाज नहीं आते...तुम अगर अपनी खाली जेबें दिखाओगे तो वे कहेंगे...“खुद नहीं दे सकते तो किसी को देने के लिए कह सकते हो...पैसा न सही पावर तो है तुम्हारे पास, उसे भुनाकर दो।” बगैर सोर्स-रिसोर्स यहाँ पत्ता तक नहीं हिलता। इसलिए जो भी नया बंदा दिल्ली में उतरता है, पहले से ही जो संभव हुआ अपनी जेबों में भरकर लाता है।

ऐसा नहीं कि मैं बगैर तैयारी आया था। वे सोर्स जो मेरी दिल्ली की तैनाती में मदद करनेवाले थे, उन्हें भी मैंने सरकारी मकान पाने के लिए इस्तेमाल करने को रख छोड़ा था, क्योंकि यहाँ अगर मकान नहीं तो तैनाती भी बेकार है। जो सोर्स मेरी जेब में थे, उनके अलावा जब हर मिलनेवाला मुझे आशान्वित करता आया...“मकान...? वह आप मुझ पर छोड़ दीजिए...” तो मुझे विश्वास हो गया कि मकान मुझे फट से मिलेगा। जो इस तरह से बोलते थे, वे सब अच्छे से अच्छा मकान हथियाए बैठे थे, इसलिए वे छुच्छल ही नहीं बोल रहे थे। मेरे एक सहकर्मी, जो कुछ महीनों पहले ही वहाँ से आए थे जहाँ

मैं अब तक था, उन्होंने वहीं से वायदा किया-"मकान...? वह तो मैं आपको दिलवा दूँगा।" वे यहाँ जैसे ही मिले, मैंने उन्हें पकड़ लिया। वे बोले-"कल मैं आ जाता हूँ...आप मकान-मंत्री को एक चिट्ठी लिख देंगे कि इन वजहों से मकान आपको फौरन दिया जाए और हम उस अर्जी पर मंत्री जी के आदेश ले लेंगे।" वे मशीनी आत्मविश्वास से बोल रहे थे, मैं चकित था, मतलब इतना आसान! दूसरे दिन वे निर्धारित समय पर आ भी गए। साथ में उनके कोई श्रीकांत थे..."मैं एक महीने को बाहर जा रहा हूँ, श्रीकांत जी आपके मामले को फॉलो-अप कर लेंगे, आपको बस वह चिट्ठी दे देना है।" मैंने उन्हें मंत्री जी के नाम चिट्ठी थमा दी। अगले दिन ही श्रीकांत जी का फोन आया। वे थोड़ा अधिकार के स्वर में बोल रहे थे..."अच्छा जी, आपके लिए मंत्री जी को बोल दिया गया है, जिन्होंने बोला है आप उनसे कहाँ मिलेंगे जी? कहाँ फिक्स कर दूँ, किसी होटल या क्लब या उनके घर?"

मेरा माथा ठनका...ऐसी तो कोई बात हुई नहीं थी, जरूर उस आदमी से पैसा दिलवाया जा रहा होगा, जिसका मुआवजा वह मुझसे माँगेगा। मैं घबराया। और फोन पर श्रीकांत को डाँटता चला गया..."भाड़ में जाए मकान, मुझे नहीं मिलना इससे या उससे...मकान मेरा हक है, जो मुझे यहाँ तैनाती के कारण मिलना ही चाहिए...मिलेगा, देर-सबेर। मुझे नहीं मिलना किसी से" और मैंने फोन रख दिया। फौरन ही मुझे खासा अफसोस हुआ। इस शहर में अड़ियल होने से नहीं चलेगा, लचीला होना पड़ेगा—यह सलाह मुझे कई शुभचिंतकों ने दी थी।

शाम अपने विभाग के एक बहुत ही मिलनसार और मृदुभाषी अफसर से मुलाकात हो गई—श्री नरेशचंद्र। नरेशचंद्र की जान-पहचान ढेरों लोगों से थी। उन्होंने मुझे ढाढ़स बँधाया—"यहाँ आपको बहुत सारे लोग यों ही बोलते चले आएँगे कि वे आपको मकान दिलवा देंगे...आप किसी के चक्कर में न पड़िए। आप तो बस मुझ पर छोड़ दीजिए। मैंने कितनों को मकान दिलाया है," और वे एक लंबी फेहरिस्त

मेरे सामने खाते के पन्नों की तरह खोलते चले गए।

"तो मुझे अभी क्या करना होगा?"

"आप पहले फॉर्म भरिए, मंत्रालय 19 तारीख तक फॉर्म लेता है। एक बार आपका नाम कम्प्यूटर पर चढ़ गया...उसके बाद आप मुझ पर छोड़िए।"

अगले दिन श्रीकांत ने फोन किया—"सर जी, आपकी चिट्ठी पर मंत्री जी के आदेश हो गए हैं।"

"पर अभी तो मैंने फॉर्म भी नहीं भरा।"

"अजी फार्म-आर्म क्या होवे जी। मंत्री जी ने लिख दिया—"एन.ए.वी.' में बी. एलोटेड"

"पर मुझे तो मकान चाहिए, यह एन.ए.वी...?

"एन.ए.वी. माने नेक्स्ट् एवेलेबल वेकेंसी—जैसे ही वेकेंसी, माने खाली मकान हुआ, आपको मिलेगा। हमने तो कहा था जी, हम तो आपके ताबेदार हैं, आप तो बेकार ही नाराज हो गए। मैं फोटोकॉपी आपके पास भेज रहा हूँ। आप अपनी आँखों से देख लेंगे।"

और सचमुच ही वह फोटोकॉपी ले आया। मंत्री जी ने मेरी चिट्ठी पर अपने हाथ से लिखा था। मैं खुश था, चकित भी। तो वह हवा में बात नहीं कर रहा था। मैंने श्रीकांत को दी हुई उस दिन की डाँट को थोड़ा धोया-धाया। वह काम का बंदा था, इतनी जल्दी मंत्री से आदेश ले आया। बाद में मैंने नरेशचंद्र को बताया तो वह हँसा-"ये तो मंत्री के दफ्तर के लटके-झटके हैं, एन. ए. वी. के कोई मायने नहीं, यह तो मंत्री हर एक के पत्र पर लिख देते हैं।"

"तो जैसा इसमें लिखा है—मकान खाली होने पर मुझे नहीं मिलेगा?" मैंने पूछा।

"खाली हो तब न? यहाँ मकान खाली होते ही नहीं। वेकेंसी होने के पहले ही वे किसी के लिए इयरमार्क कर दिए जाते हैं। इसलिए इस आदेश के कोई मतलब नहीं। इसे फाड़कर फेंक दीजिए।"

मेरा मुँह लटक गया। मैं नरेशचंद्र की तरफ ताकने लगा। "पर आप चिंता न करें। मैंने कहा था न—आप मुझ पर छोड़ दीजिए।"

"आप कुछ कर तो रहे नहीं।"

"मैं—मैं खानापूरी कर ले रहा हूँ। फार्म-आर्म भर जावे, फाइल में कुछ कागज तो आ जाएँ। विना फाइल यहाँ कुछ नहीं चलता। तब तक रणजीत आ जाएगा।"

"रणजीत?"

"हाँ, रणजीत—मंत्री का स्पेशल असिस्टेंट। वह विदेश गया है जैसे ही वह आया, अपना काम फिट।"

इस बीच बंबई के मेरे एक परिचित—राना के फोन पर फोन आए। राना अधेड़ उम्र का स्मार्ट आदमी था। उसके बाप-दादों की सोने-चाँदी की एक छोटी-सी दुकान थी जिसे राना ने अपने संपर्कों के जरिए बढ़ाकर एक 'एक्सपोर्ट हाउस' से तब्दील कर लिया था। गोरा रंग, देखने में खूबसूरत, सबसे ऊपर सफलता और पैसे से पैदा हुआ आत्मविश्वास। वह मेरे लिए कब से कुछ करने के लिए बेताब था। कितनी बड़ी राजनैतिक हस्तियों के यहाँ उसका उठना-बैठना था। कोई मौसम हो, वह चमचम जूते-मोजे से लैस रहता था। जब नेताओं से बात करने की बात उठती तो बोलते हुए कमीज की आस्तीन ऊपर सिकोड़ता चला जाता, गोया कि किसी युद्ध के लिए खुद को तैयार कर रहा हो—"अरे उस साले की ऐसी तैसी। वह करेगा कैसे नहीं, पी. एम. ओ. के यहाँ से फोन करा दूँगा।" राना ने ही एक खास मकान बताया जिसमें उसके एक परिचित रह रहे थे और जो खाली करनेवाले थे—"बहुत बढ़िया मकान है, आपको वही दिलवाऊँगा।" मेरे मुँह में पानी आ गया, मैंने अगले दिन उस मकान के बारे में तहकीकात की तो पता चला कि वह मकान फाइल पर एक नहीं तीन लोगों के लिए रखा जा चुका था...माने इयरमार्क, जबकि अभी वह खाली भी नहीं हुआ था। राना बोला—"तीन को है तो चौथे आप सही, अभी कोई घुसा तो नहीं है न उसमें। वह सब आप मुझ पर छोड़िए।"

राना ने जिसको इस काम पर लगाया वे सज्जन एक पत्रकार थे—श्री शर्मा। राना ने बताया कि शर्मा, राजीव गाँधी का खास आदमी

था। आज भी उसका मकान-मंत्री के यहाँ रोज का उठना-बैठना है। शर्मा मुझे वही मकान दिलाएगा जो कागज पर तीन को दिया जा चुका है।

शर्मा जी मुझसे अगले दिन ही दफ्तर में मिलने आए और मुझे यों ही देखने लगे जैसे बच्चा मिठाई को देखता है।

"कौन-सा पोर्टफोलियो मिला है आपको?"

मैं झुँझलाया तो कि यह आदमी अपने लिए आगे का सिलसिला बिठाने में अभी से लग गया, रूखे-रूखे बताया अपने काम के बारे में।

"आपको हमें इस विभाग के सर्वोच्च पद पर बिठा देना है।" शर्माजी अपने दोनों हाथों की उँगलियाँ टकटकाने लगे। वे बेहद संजीदा हो गए।

"शर्मा जी आप वह चिंता छोड़िए। मुझे पद नहीं एक अदद मकान चाहिए।"

"वह तो मिल गया, मिला ही समझिए शाम तक आदेश हो जाएँगे। यहीं से कह देता हूँ।"

और उन्होंने मेरा फोन पकड़ लिया। एक पल को मैं हैरान... आदमी है या जादूगर, मंत्री को आदेश देगा, वह भी मेरे सामने? शर्मा जी ने मोटे नगोंवाली अँगूठियों से और मुटल्ल हुई अपनी उँगलियों को फोन पर एक-दो बार गोल-गोल चलाया, फिर बोले, "इंगेज्ड है, मैं खुद ही चला जाता हूँ। आप मुझ पर छोड़िए।"

यहाँ भी वही..."मुझ पर छोड़िए।" बढ़िया तकिया कलाम था या उन सबकी शब्दावली तक एक हो गई थी।

शर्मा जी गए क्या...गायब हो गए। जब राना का बताया मकान किसी दूसरे को एलॉट हो गया तो मैंने राना को फोन कर उसे लानत भेजी। वह चुपचाप सुनता रहा। मैंने कहा—"अब किसी और मकान का सोचा जाए" तो वह गुस्सा पड़ा। "दूसरा क्यों, वही मकान आपको मिलेगा।"

"उसके तो आदेश हो गए।"

"आदेश उलटे जाएँगे--ऐसी-तैसी! मैं अभी आपको फोन करता हूँ।"

राना जब भी कभी कठिन स्थिति में होता यही कहता—मैं अभी आपको फोन करता हूँ...और वह फोन करता भी था। उसका फोन आया कि उसकी प्रधानमंत्री के सलाहकार से बात हुई है। आजकल यू.पी. क्राइसिस के कारण वे कोई फोन ही नहीं ले रहे थे। सिर्फ राना का फोन लिया। कल मकान-मंत्री से बात करके वे राना को फोन करेंगे। अगले दिन सबेरे राना का फोन आया—"सलाहकार जी की मकान-मंत्री से बात हो गई है। मकान-मंत्री इस खास मकान को लेकर थोड़ा दिक्कत में हैं, हाथ जोड़ रहे थे कि आप इसे छोड़ दें। शाम तक मुझे चार मकानों के नंबर दिए जाएँगे, मैं जाकर देख आऊँ और जो पसंद करूँगा उसका आदेश हो जाएगा।"

वाह! यह हुई प्रधानमंत्री के दफ्तर जैसी बात। मैं उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगा कि फोन आएगा, कई मकानों के नंबर मिलेंगे और मैं निकल पड़ूँगा, एक साथ सब देखूँगा, उनमें से एक चुनूँगा। भीतर से थोड़ा मैं पुलकित था कि कहाँ सबको जैसा-कैसा मकान एलॉट कर दिया जाता है, मुझे चुनाव करने दिया जाएगा। दिन भर मैं प्रतीक्षा करता रहा। शाम तक कोई खबर नहीं आई तो मैंने शर्मा जी को फोन लगाया जो राना जी की हर योजना के 'लोकल गार्जियन' होते थे।

"हाँ, उस मकान में थोड़ी दिक्कत थी। आपको दूसरा मिलेगा।" वे इत्मीनान से बोले।

"मकान तो कभी न कभी मिलेगा ही शर्मा जी, क्योंकि मैं सरकारी नौकर हूँ।"

"आपको प्रायर्टी पर मिलेगा।"

"प्रायर्टी पर देने के आदेश भी मंत्री जी आपसे मिलने के पहले कर चुके हैं।" मैंने हल्की शिकायत की।

"आपको ओवर राइडिंग प्रायर्टी पर मिलेगा।" शर्मा जी एकदम शांतस्वर में बोले।

"राना ने कहा था, शाम तक मुझे मकानों के नंबर मिलेंगे, मैं छाँट लूँगा। आपको दिए क्या कुछ नंबर उन लोगों ने?"

"मैं अभी आपको फोन करता हूँ, मकान-मंत्रालय से। आप इसी नंबर पर हैं न?"

मंत्रालय से फोन आया, मंत्री जी के पी. ए. का। मैंने उसे भी उलाहना दिया कि आपके यहाँ से खाली मकान के नंबर मिलनेवाले थे, तो वह बड़ी कराहती आवाज में बीमार की तरह बोला—"नंबर...खाली मकान...? यही तो मुश्किल है साहब। मकान खाली होते ही कहाँ हैं, नंबर यहाँ कहाँ। आप ऐसा करिए आप ही अपने लोगों से पता कीजिए और हमें नंबर दे दीजिए।"

उसने जैसे मुझे पटक दिया, झुँझलाकर मैंने फोन रख दिया। राना और शर्मा जी जैसे लोग कैसी हवा बाँधते थे। मुझे लगा वे पहुँचे हुए हवाबाज़ थे—हवा में लंबी-चौड़ी भूलभुलैया बनाते और उसमें छोड़ देते। मैं उसमें गोता लगाते, चक्कर खाते, घूमता रहता। फिर भी मैंने इन लोगों की बातों को आखिरी बिंदु तक ले जाकर देखने के लिए यह भी किया कि एक-दो खाली मकानों के नंबर मंत्री जी के पी. ए. को दिए। नंबर मिलते ही वह बीमार की जगह गर्मजोश हो गया। मुझे उम्मीद बँधी, पर अगले दिन पता चला नंबर बेशक मुझसे लिए गए थे पर वे मकान दे दिए गए औरों को।

मुझे कोई दूसरा रास्ता पकड़ना होगा। हवाबाज़—हवा में लड़ते थे, जबकि मेरी लड़ाई जमीन की होनी चाहिए। यह सभी कहते थे कि वह जमाना, जब मकान कोई छोटा-मोटा अफसर एलॉट करता था, कब का लद गया। अब यह काम मंत्री खुद करते हैं। लिहाजा मुझे बाकायदे प्लांड तरीके से मंत्री को घेरना था, जैसे कि शतरंज में बादशाह को घेरते हैं। मैंने सबसे पहले एक मकान जो जल्द ही खाली होनेवाला था, उसे तलाशा। इस बार मकान का नंबर पी. ए. को बताने की गलती नहीं की। अपने एक साथी अफसर से सलाह करके, मैंने अपने लिए फाइल चलवाई, फाइल में मेरा फॉर्म मंत्री जी के एन. ए. वी. के आदेश और मेरी एक नई चिट्ठी कि मेरी

परिस्थितियों को देखते हुए मकान फौरन दिया जाए, लगाए। चिट्ठी पर नीचे के अफसर से शुरू करके सचिव स्तर तक के अफसरों की अपने पक्ष में टिप्पणी-दर-टिप्पणी चस्पा कराई। सचिव स्तर पर जाकर उस मकान के नंबर का खुलासा किया गया जिसे मुझे देने की संस्तुति की गई।

पुख्ता बुनियाद थी यह कागजी कार्यवाही की। बस अब मकान मंत्री को घेरना था...इस तरह कि मेरी फाइल उसके पास पहुँचने के पहले वह मेरे पक्ष में निर्णय लेने को तैयार हो चुका हो। मैंने कोशिश करके मंत्री जी के लिए कई सोर्स ढूँढ़ निकाले—मंत्री जी का लड़का, लड़की, दामाद अन्य रिश्तेदार सबके संपर्क-सूत्र जुटा लिए। मैंने श्रीकांत को भी चूमा-पुचकारा कि वह मंत्री के लिए अपने सोर्स को उठाए। राना का सोर्स भी प्रयोग में लाना चाहिए, सब कुछ इस्तेमाल करना चाहिए, पता नहीं कब क्या काम कर जाए।

दरअसल अब तक मुझे खेल में मजा आने लगा था। मैं खुद को छोटे-मोटे जनरल की तरह देखता था जो एक चौतरफा आक्रमण पूरे डिटेल में प्लान करके संचालित कर रहा था। फौज की मुख्य टुकड़ी फाइल के साथ नीचे से मंत्री की तरफ बढ़ रही थी। इसका नेतृत्व मेरे हितैषी मकान-मंत्रालय के एक अफसर कर रहे थे, दाहिनी तरफ की कमान मेरे दूसरे दोस्त रामस्वरूप के हाथ में थी। उसे मंत्री के पुत्र को सँभालना था। बाईं तरफ का नेतृत्व मेरे सहकर्मी रमेश के हाथ में था जो मंत्री के लड़की-दामाद को पकड़कर बढ़नेवाला था। ऊपर की दिशा मैंने प्रधानमंत्री के सलाहकार के लिए रखी—जिसे मैंने राना और शर्मा जी को सौंपा। बाएँ से थोड़ा ऊपर की जगह श्रीकांत की छोटी टुकड़ी के लिए छोड़ दी थी—जिस किसी के मार्फत वह एन. ए. वी. का अर्थहीन आदेश करवाकर लाया था—वह उसे ही लेकर आगे बढ़े। मैं सब टुकड़ियों की चाल इस तरह टाइम कर रहा था कि मेरी फाइल पहुँचते ही या पहुँचने के ठीक पहले सभी टुकड़ियाँ एक के बाद एक मंत्री पर धावा बोल दें। बहुत पहले या बाद के बोले गए को मंत्री जी भूल जाते थे क्योंकि वे बेचारे बहुत

वृद्ध थे। उन दिनों मेरा मस्तिष्क बहुत उर्वर हो उठा था, शिराओं में खून तेजी से दौड़ रहा था। रोज सबेरे उठकर मैं फोन पर हर टुकड़ी के कप्तान से जायजा लेता कि वह कहाँ तक पहुँचा—मंत्री का लड़का या कि दामाद, मंत्री जी से कब और कहाँ मिलनेवाले हैं, कैसे बोलनेवाले हैं, वगैरह-वगैरह। मुझे एक यह भी पते की सूझी कि ठीक उसी दिन जब मंत्री दौरे से लौटें, मेरी फाइल उनके सामने पहुँचे। उनके अहं की तुष्टि हो...इसलिए मैंने स्वयं उनसे मिलने का समय भी उसी दिन का ले लिया। राना के मार्फत प्रधानमंत्री के सलाहकार का एक पत्र भी मैंने मंत्री जी को खुद देने के लिए साथ ले लिया, यह अमोघ शस्त्र था जिसकी गरमाहट मैं हर पल महसूस कर रहा था।

निर्धारित समय पर मैं मंत्री जी के दर्शन को पहुँचा। मेरी तो वात एक ही पी.ए. से होती थी, लेकिन देखकर मैं दंग रह गया कि वहाँ छोटे-मोटे मुस्टंड पंडों जैसे सात-आठ पी.ए. अपनी-अपनी छतरियाँ गाड़े बैठे हुए थे। मुझे देखकर सबके मुँह में लार बनने लगी, लेकिन मैं उनके खेल समझता था। जिस पी.ए. से मेरी बात हुई थी, उसी को चुपचाप अपना आना बताकर मैं वहाँ जाकर बैठ गया जहाँ दूसरे लोग प्रतीक्षा कर रहे थे...कि पी.ए. "वाह-वाह, आप यहाँ क्यों बैठे हैं, एअरकंडीशंड में चलकर बैठिए" कहता हुआ मुझे दूसरे कमरे में ले गया। वहाँ बाहर बोर्ड लगा था—रणजीत, विशेष सहायक। रणजीत सभी पी.ए. लोगों का मुखिया था। मेज के पार उसकी कुर्सी खाली पड़ी थी, क्योंकि फिलहाल वह छुट्टी पर था। सामने सोफे रखे थे, जिस पर मुझे बिठा दिया गया। वहाँ दो पहले से ही बैठे हुए थे। मुझे उन लोगों के चेहरे एकदम अपने जैसे लगे। अब तक वह पी.ए. जो मुझे यहाँ लाया था, मेरा विश्वासपात्र बन गया था। यह वही था जिससे राना के पत्रकार दोस्त शर्मा के मार्फत खाली नंबरों के मुताल्लिक बातचीत हुई थी, उसी ने मंत्री से मिलने का समय भी लेकर मुझे दिया था। उसने बताया-"आपकी फाइल मंत्री की मेज पर है, वहीं सब संबंधित अफसर हैं, आज अभी यहीं

फैसला हो जाएगा, आप भी कागज लाए हैं...और उसने आराम से मेरे हाथ से वह लिफाफा ले लिया, जिसमें प्रधानमंत्री के सलाहकार का पत्र, मकान नंबर वगैरह रखे थे। सब कुछ देखकर उसने लिफाफा मुझे वापस पकड़ा दिया—"ठीक है—जैसे ही मंत्री जी बुलाते हैं, मैं आपको खबर दूँगा।"

मैं वहाँ बुड़बक की तरह एक घंटे से ऊपर बैठा रहा। आखिरकार बेचैन हो जब मैं मंत्री जी से मिलने के लिए उठा तो एक लंब-तड़ंग पी.ए. जिसकी नस-नस से खाए-पिए की चमक फटी पड़ती थी...मेरी तरफ आया—"बधाई हो जी। मंत्री जी ने आदेश कर दिए हैं। आपको अब उनसे मिलने की जरूरत नहीं है। आपकी फाइल पर उन्होंने लिख दिया है। एकदम क्लियर-कट आर्डर किए हैं।"

"तो मुझे वह मकान एलॉट हो गया?" मैं चहका।

"मंत्री जी ने साफ लिख दिया है—"ही में वी एलॉटिड द नैक्स्ट हाउस विच फाल्स वेकेंट" एकदम क्लियर-कट आर्डर हैं जी।"

"और वह मकान?..."

"वह तो पता नहीं। पर मंत्री जी ने क्लियर-कट आर्डर फाइल पर किए हैं।"

मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। इतने दिनों की मेहनत...सारी जोड़ा-जाड़ी, इन भाइयों ने एक फूँक में उड़ा दी थी। ऊपर से अब वे मेरी अंग्रेजी सुधार रहे थे—अर्थहीन आदेश को क्लियरकट आर्डर बता रहे थे। मुझे क्या मालूम कि जब मैं इंतजार कर रहा था तब पी. ए. लोगों का एक दल सक्रिय था। खाली होनेवाला मकान जिसका नंबर मेरे पास था, उसके लिए उन्होंने तत्काल फाइल बनाकर, मंत्री को उलटा-सीधा समझाकर उसे अपने किसी आदमी को एलॉट करवा लिया। मेरी फाइल एक किनारे ही रखी रह गई। जब वह मंत्री जी के सामने लाई गई तब तक वह मकान जिसका सुझाव था, वह उड़ चुका था...तो मेरी फाइल पर ये बेकार के शब्द लिखवा लिए। वे मकान की जगह फिर मेरे हाथों में शब्द थमा रहे थे...पहले एन.ए.वी. अब एन.ए.एच. नैक्स्ट एवेलेबल हाउस।

"आप जानते हैं, इसके माने कुछ नहीं होता।" मैंने मायूसी से कहा।

..."नेक्स्ट एवेलेबल जी। ये सरकार के आदेश हैं..." पी.ए. वजन देकर कह रहा था। मेरे सामने यमदूत की तरह वह खड़ा था... गोरा-चिट्टा, खाया-पिया तोंदुल। उसके पीछे-पीछे बाकी और पी..ए. भी मुझ पर झुक आए थे और मुझ पर तरस भरी हँसी उंडेल रहे थे। वह भी जो कुछ देर पहले मेरा विश्वासपात्र था जिसने मंत्री से मुलाकात का समय लिया था, या पता नहीं कुछ नहीं लिया था, यों ही मुझे एक समय बता दिया था। मैंने मंत्री जी से मिलने की पेशकश की। मुझे बहलाने के लिए वे भीतर से पूछकर आ गए-"जरूरत नहीं है—मंत्री जी का कहना है। सरकार के आदेश हो गए हैं...।"

सरकार...वह जो सजा-धजा भीतर कमरे में बैठा है या ये जो वाहर धमाचौकड़ी मचाए हुए हैं।

मैं हारा हुआ जनरल लौट पड़ा। मेरा चौतरफा आक्रमण एक नाचीज टुकड़ी ने नाकामयाब कर दिया था। प्यादों की मैंने गणना नहीं की। शतरंज के खेल में प्यादों को ऐसे ही पहले नहीं मारा जाता है!

चलने से पहले मेरी नजरें सामने की खाली कुर्सी पर अटक गईं। रणजीत की कुर्सी, रणजीत मंत्री का विशेष सहायक, सहायकों का सिरमौर! मुझे लगा वह कुर्सी धीरे-धीरे हिल रही थी।

"एक अच्छी खबर है भाई साहब—" नरेशचंद्र का फोन था—"रणजीत की सास मर गई।" मैं चौंका, कि उसने आगे कहा—"रणजीत को अब विदेश से जल्दी ही लौटना होगा। एक बार वह आ जाए बस..."

मुझे समझ में नहीं आया हँसू या रोऊँ। फिलहाल मैं रणजीत नाम पर विचार करने लगा। रण जो मैं नहीं जीत पाया शायद वही जीते, क्योंकि रणजीत था।

ज़ुड़ाव

नन्ना आए थे, नन्ना...खुन्नी महाराज। वही नाटा कद, झबरी मूँछें, शुद्ध घी की चुपड़न से चिकना चेहरा। सिर पर साफा, कई जेबोंवाली बंडी के ऊपर मोटा कुरता, उठंग धोती और पन्हैंयाँ। वही उचकउवाँ गोल-गोल चाल। बंडी की जेब में कसमसाते कलदार। फसर-फसर चले आ रहे थे, घी की दुकान से सीधा इधर...पर नन्ना का घर तो उधर है, दुकान के ठीक सामने जो सड़क नीचे उतरती है। उन्होंने यह दाईं तरफ़वाली सड़क कैसे पकड़ ली...

"नन्ना, तुम भूल गए...उधर जाओ, उधर। इधर तो मेरा मकान है, तुम्हारा नहीं।"

नन्ना रुक गए। उनका इत्मीनान एकाएक उड़नछू हो गया था। तरेरकर देखने लगे। शुद्ध घी की इतनी बड़ी दुकान के मालिक, सफल व्यापारी, कितने कलदारों की कमाई रोज की। उनकी पोतिन, कल की यह छोकरी उन्हें रास्ता बता रही है? उनकी नजरें परीशान, इसी घर पर अटकी हुई थीं...

"हाँ नन्ना! यह तो संतू तेलीवाला मकान है, जिसे मैंने खरीदा था। तुम्हारा मकान तो वह है जिसमें अब टाइप बाबू रहते हैं, चीपों की कुलियावाला मकान...भूल गए?"

नन्ना की पेशानी पर लकीरें उभर आती हैं—उनका मकान वह जिसमें अब कोई लगुआ-भगुआ रहता है या कि वह जिसमें उनके वंश की कोई रहती है! इसी मकान की तरफ देखते-देखते वे अदृश्य हो गए थे...

नन्ना का मकान, टाइप बाबू का मकान, चीपों की कुलियावाला मकान...एक ही बात है। कुलिया के मुहाने पर तब एक फाटक था। घुसते ही दाईं तरफ मकान का अगला हिस्सा पड़ता था, जो पक्का बन गया था और अब टाइप बाबू का मकान कहलाता है। पीछे लड़कों-बहुओं के लिए एक बड़ा कच्चा मकान था, जो अब चार-पाँच अलग-अलग घर हैं। फाटक के भीतर ही एक छोटा मंदिर और कुआँ था। आँगन चीपों से पटा हुआ था। चीपों पर वे कितनी तरह के खेल खेला करते। कुल्लूपारा—खप्पर का गोल-गोल टुकड़ा पारा—उसे पहले चीपों के खानों में फेंका, फिर एक टाँग से जाकर उसे उठा लाना और वापस लौटना,...पहले खाना से शुरू करके सातवें या आठवें, जहाँ तक संभव हो, जाना। कभी बीच की एक चीप नाककर जाना और लौटना, कभी पारा को एक पैर से ही खिसकाते हुए वहाँ तक लाना जहाँ से शुरू हुए थे...

पक्के मकानवाले हिस्से के बाहरी चबूतरे पर एक तख्त पड़ा रहता था। अकसर नन्ना उघारे बदन वहाँ बैठे होते तो वे उनकी गोद में जा बैठतीं और अपनी छोटी-छोटी उँगलियों से नन्ना की तोंद बजाती थीं, ढोलक की तरह। खूब गुलगुल थी उनकी तोंद। नन्ना के चार लड़कों में से मझले के यहाँ पहला लड़का हुआ था। तब नन्ना ने सड़क बाँध दी थी—जो रास्ते से निकले, बिना खाना खाए न जाए। दिन भर बाहर के उस चबूतरे पर पत्तलें बिछती और उठती रही थीं। उस दिन नन्ना बार-बार बाहर-भीतर आ-जा रहे थे और वे नन्ना की गोद में चढ़ने को मचलती हुई, उनका पीछा करती रही थीं। नन्ना कभी बचकर इधर-उधर हो जाते, पर वे उन्हें ढूँढ़ ही निकालतीं। हारकर नन्ना को उन्हें गोद में लेना पड़ा था, उन्हें लिए-लिए ही वे इधर-उधर निगरानी करते रहे थे। नन्ना की गोद में चढ़ीं, सबको दिखातीं...इतराती हुई वे भोज का तमाशा देखती रही थीं। थोड़ा बड़ी हो गईं तो एकाध भाई-बहन के साथ नन्ना की दुकान चली जाती थीं, नन्ना तब पास की दुकान से मिठाई मँगवाते, मिठाई का दोना सब बच्चों के हाथ में थमा, समझा-बुझाकर उन्हें

घर भेजते...

नन्ना व्यापार में घाटा खाने लगे, पक्का मकान बनवाया तभी से। ज्योतिषी ने कहा था, पक्का मकान उन्हें फलेगा नहीं। घाटा जब ज्यादा लगा तो आगेवाले पक्के मकान को बेचकर वे लड़का-बहू समेत पीछे के कच्चे मकान में चले गए थे। चीपोंवाले आँगन में कुल्लूपारा बाकायदे जमता था, चचेरे भाई-बहनों के बीच कुल्लूपारा में अब वे लीडर थीं...

कुल्लूपारा...एक टाँग के खेल से यहाँ तक...जब वे, खुन्नी महाराज की पोतिन, अब एक से न सही पर डेढ़ टाँग से जरूर चलने लगी हैं, अस्सी छूने जा रही हैं। पैदल चलने में हर पल अंदेशा कि कब गिरे, कब तिरछी टाँग की हड्डी चटकी। बटलोई उठाने में हाथ काँपते हैं...तो बेटे नंदू को लिख दिया कि भैया खींच लिया इतने दिन, अब और नहीं खिंचता; धुर बुढ़ापा आन पहुँचा है तुम्हारी माँ और तुम्हारे पिता का। यह बस्ती जरूर वही है जहाँ सारी जिंदगी कटी एक तरह से; लेकिन बूढ़ों को कोई नहीं पूछता, किसके सहारे पड़े रहें...तो आओ और समेट-समाटकर ले चलो यहाँ से। तुम्हारे साथ ही रहना होगा अब।

खबर मिलते ही नंदू आ गया और घर के सामान को इधर-उधर करने, बेचने का सिलसिला चल पड़ा। धूल-भरे निवाड़ के दो पलंग, मूँज की तीन चारपाइयाँ; जिनकी पाटियाँ फटी हुई थीं, एक तख्त, पुरानी कुरसियाँ, अलमारी में कब से बंद बरतन, टीन के टूटे-फूटे कनस्तर, लकड़ी की रैक जैसी छोटी खुली अलमारियाँ, जंग खाई टीन की जालीदार अलमारियाँ...क्या-क्या तो नहीं निकला, जहाँ वे सोचती थीं कि कुछ भी नहीं था उनके घर में। नंदू के पिता बड़ी तटस्थता से सामान का निकलना, जाना देखते रहे। कभी कुछ सलाह लेने के लिए पूछो तो नपा-तुला ही जवाब—"तुम जानो, गृहस्थी तुम्हारी थी, मैं तो तुम्हारे पीछे-पीछे हूँ।" वे खुद खासी निस्संगता से सामान निकालने में लगी हुई थीं। कभी-कभी तो ताज्जुब होता कि यह था जिसे ताकते पड़ी थीं इतने सालों से यहाँ...यह कूड़ा-कबाड़ा?

लेकिन जब पुराना लोहे का ट्रंक जाने लगा तो आँखें भीग आईं। उनके ब्याह के बाद से ही यह साथ था। गरम कपड़े, कीमती बरतन, दूसरा कीमती सामान...उनकी असली गृहस्थी को संसार से छिपाए रखता था। जाड़ा आने से पहले गरम कपड़े धूप में रखने के लिए निकाले जाते तो क्या गंध उठती थी, जैसे कपड़े नहीं वे छोटे-मोटे प्राणी थे जो अपनी अलग-अलग महक लिए बाहर निकलते थे। ट्रंक का खुलना एक घटना होती थी। नंदू और उसकी बहनें ट्रंक को घेरकर खड़े हो जाते, अपने छोटे-छोटे हाथ पूरे-के-पूरे ट्रंक में डाल देते, कहाँ क्या छिपा है, कहाँ से क्या निकलेगा...जैसे ट्रंक नहीं वह कोई जादू का बक्सा था। उसका बेचा जाना माने उनकी गृहस्थी का ही समाप्त हो जाना था...

"इसे साथ लिए चलें..." उनके मुँह से धीरे से निकला।

"यह? इतना भारी...जंग खाया लोहा?"

नंदू ने कहा--"वहाँ हर कमरे में एक अलमारी बनी है। तुम कहोगी तो एक छोटी अलमारी तुम्हारे लिए अलग से कर देंगे। कोई खास कीमती सामान तो है नहीं तुम्हारा कि लोहे का ऐसा बक्सा चाहिए।"

एक छोटी डैस्क थी। नंदू जब छोटा था तो उसके पढ़ने के लिए बनवाई थी। उस पर बाद में उसकी बहनों ने भी पढ़ा। लकड़ी का वह छोटा-सा टुकड़ा उनके बच्चों के कभी बच्चे होने का गवाह था। नंदू तो भूल ही गया होगा। उन्होंने कुरेदा—

"नंदू, तुम्हें याद है, इसके लिए तुमने कितनी जिद की थी?"

"हाँ, याद है। इसके लिए मुझमें और रम्मो में खूब लड़ाई भी होती थी, कौन उस पर पढ़ेगा। मैंने तो इसे यूनिवर्सिटी भी ले जाने का सोचा था; पर तब तक समझ में आ गया था कि यह रम्मो और बीनू के लिए ही ठीक रहेगी।"

"तुम चाहो तो इसे रख लें।"

"कहाँ माँ, क्या-क्या ले जाएँगे, कहाँ रखेंगे!"

नंदू के स्वर में हल्की झुँझलाहट उतर आई थी...झुँझलाहट जो

चीजों और व्यक्तियों के जरूरत से ज्यादा खुद से चिपके रहने से हो आती है। कुछ चीजें ऐसी होती हैं कि जाती ही नहीं। नंदू शायद सही है—एक समय होता है जब चीजों की अहमियत होती है, वह गुजर गया उसके बाद भी उन चीजों को स्वयं से चिपकाए रखना? पर उन दो बुड्ढे-बुढ़िया का भी तो समय निकल चुका है, नंदू उन्हें भी क्यों छाती से चिपकाए रहे!

कितने ऐसे जो इस बस्ती से बाहर यों ही निकले तो लौटे ही नहीं, लेकिन संयोग कि वे जो ब्याह के बाद बाहर बसने को निकली थीं, वे फिर लौट आईं। नौकरी करती थीं और तबादला जब दूर के एक गाँव में हो गया तो नंदू की पढ़ाई की खातिर इसी बस्ती में फिर से जमने के लिए लौटीं। चीपोंवाले आँगन के दोनों तरफ छोटे-छोटे मकान उग आए थे, फाटक गायब था और आँगन की जगह एक कुलिया निकल आई थी। तब चीपोंवाली उस कुलिया ने ही उन्हें शरण दी थी। नन्ना तो कब के जा चुके थे। उनके बड़े लड़के यानी कि इनके पिता भी गुजर चुके थे। चाचा लोगों में कच्चे हिस्से और आँगन की जमीन का बँटवारा हो चुका था। माँ थीं...छोटे मंदिर के ठीक सामनेवाले कच्चे मकान में। कुछ घरों की रोटियाँ बनाकर गुजर करती थीं। वे उन्हीं के पास रुकीं, लेकिन जल्दी ही कुलिया के बाहर एक कमरा किराए पर ले लिया। कमरा दोतल्ला था, लेकिन था तो एक ही, इसलिए गरमियों में सड़क पर ही सोना होता। कितने साल उसी कमरे में निकालने के बाद कहीं जाकर संतू तेली का यह मकान खरीदा था...कोई तो अपना ठौर चाहिए। मकान कच्चा था...लेकिन सही माने में ऊपर एक छत थी कि अब सड़क पर सोना नहीं होगा। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों गृहस्थी जमती गई, मकान आगे-पीछे पक्का बनता गया—पहले अटारी और एक छत, उसके बाद पीछे की छत...क्या-क्या उठते चले गए, कैसी-कैसी धुन में कि नंदू यहाँ रहेगा। उसके बच्चे होंगे, नतबहू यहाँ रहेगी, उनके बच्चे होंगे...

छत और अटारी कब से बंद पड़े हैं, सालों से उधर कोई कदम

न पड़े होंगे। नंदू बड़ा होकर शहर चला गया, बेटियों के ब्याह हो गए। यह भविष्य वे देख पातीं तो मकान न बनातीं...पर शायद फिर भी बनातीं, सभी बनाते हैं!

सामान-आमान जब ठिकाने लगाया गया तो जी किल्पा, पर थोड़ा-बहुत ही...लेकिन मकान बिकने की बात आते ही जैसे कोई भीतर आरी चला रहा हो। वे खूब जानती हैं कि इस मकान का पूरा इस्तेमाल तो दूर, उनसे अब मकान की ठीक से देखभाल भी नहीं हो सकती; कोई एक दिन पूरे मकान में झाड़ू लग जाए यह तक तो हो नहीं पाता। जब अपने शरीर का ही ख्याल नहीं कर पाते वे तो मकान का कैसे कर सकेंगे? बस्ती छोड़ देने पर, दूर से कैसे और कौन देखभाल करेगा...इसलिए बेच देना ही एक उपाय है...यह सब वे अच्छी तरह जानती हैं, फिर भी जैसे कोई भीतर सोते से जाग उठता है, जब भी बिकने की बात पक्की होती दिखी कि डोर खींच देगा, उनकी तरफ या किसी भी तरफ, जहाँ बात जाकर उलझ जाए...

"क्या कहता है फद्दे का भतीजा?" उन्होंने नंदू को कुरेदा।

"सवा तीन से ऊपर नहीं जा रहा। कहता है, भाव के हिसाब से कम ही बैठेगा, पर आपसी बात है, इसलिए।"

"यहाँ के लोगों का यही तो है। ऐसे कोई शक्ल न दिखाएँगे। तुम्हें देख लिया तो बड़ा अपनत्व दिखाएँगे। तुमने हाँ तो नहीं कर दी?"

"तुम्हारा घर है, अम्मा, हाँ या न तो तुम्हीं को करना है। वैसे इस छोटे से कस्बे में इससे ज्यादा और क्या कीमत मिलेगी?"

"क्यों, ऐन सड़क पर है, दो तरफ से खुला है। अच्छा, यह तो पता करो कि आजकल मद्दी है या चढ़ती। जब भाव चढ़ रहे हों, तब बेचना चाहिए।"

"अब अम्मा, तब तक मैं तो यहाँ बैठा नहीं रहूँगा। नौकरीपेशा हूँ।"

"हाँ, वह तो है, मगर बेटा, जमीन-जायदाद के मामले में जल्दी

नहीं करना चाहिए।"

"लेने के मामले में आपकी बात ठीक है क्योंकि उसमें हमको रहना होता है; लेकिन बेचने के मामले में क्या सोचना। बीस-पचीस इधर या उधर..."

वे ठिठककर रह गईं। नहीं रहना है तो क्या सचमुच कुछ नहीं सोचना? क्यों मन में यह उठता है कि वे अपने पैर काटे ले रही हैं? अगर कभी यहाँ आने का मन किया तब कहाँ रहेंगी? लोगों से मिलने का मन कर सकता है...लोग माने किससे? जो पिता के संग के थे—मोती बाबू, दम्मो बाबू, चट्टो बाबू—वे तो कब के जा चुके। जो इनकी उम्र के थे—छंगे, राजेंद्र, मँझले—वे भी गए। सहेलियों में कुंती, दुर्गा, शांति...वे भी उठ गईं। अब वे उठती-बैठती हैं अपने बादवालों के साथ—गोदा, मालती, श्यामा। इनसे मिलने आएँगी वे? नहीं, ऐसा नहीं है...फिर...? शायद आदत, कुछ न हो तो भी जैसे उसी जगह बार-बार आना है।

एक बार कबूतरों ने रोशनदान में घोंसला बना डाला। खरी दोपहर सिर के ऊपर काँखते-कराहते। गुस्सा होकर उन्होंने लगाई सीढ़ी, ली सींक की झाड़ू और पूरा घोंसला नीचे गिरा दिया। गनीमत कि तब तक अंडे नहीं थे, छोटी डगालें, तिनके, घास-फूँस, टूटे पंख और जाने कितनी गंदगी नीचे गिरी। कबूतरों की कितने दिनों की मेहनत पर उन्होंने एक पल में पानी फेर दिया था—अब समझ जाएँगे बच्चू, घोंसला बनाने के लिए यहाँ तो क्या, घर के आसपास भी नहीं फटकेंगे ...लेकिन दूसरे दिन फिर वही गुटरगूँ चालू थी, वही बीमार की कराह! फिर एक-एक डगाल का टुकड़ा जोड़ने-लगाने में लग गए थे वे। उन्होंने फिर सफाई की और इस बार कँटीली झाड़ियों से वह जगह तोप दी...लेकिन अगले दिन फिर वही...हूँ...हूँ...बीमार की आवाज। झाड़ियों को थोड़ा इधर-उधर सकेल-सकाल उन्होंने जगह निकाल ली थी। वे एक किनारे से खुलक जाते और छोटे से कोने में घोंसला बिछाने में लग गए थे...वही जगह, उसे न छोड़ेंगे वे...ये कबूतर थे, हम तो आदमी हैं।

"ठीक है," उन्होंने नंदू से आखिरकार कहा, "तुम सोचते हो कि रुपए पूरे मिल रहे हैं तो ठीक है, पर उससे एक बात कर लेना कि अम्मा-बाबू जब कभी यहाँ आना चाहें तो एक कमरा उनके लिए..." उनका स्वर न चाहते हुए भी थोड़ा दीन हो आया था।

"अम्मा, तुम भी कैसी बातें करती हो! वह यह अभी कह भी दे, तो क्या यह संभव है? वह खरीदेगा तो इसलिए कि उसका परिवार अपने ढंग से यहाँ रहेगा। तुम खुद वैसे में नहीं रहना चाहोगी!"

वे चिंता में पड़ गईं...आने की कोई वजह तो नहीं, पर मन है...कोई भरोसा! तो क्या महीना-दो महीना को कोई मकान किराए पर लेकर रहेंगे, पूरी गृहस्थी फिर से लगाना। अपना घर होते हुए भी किराए पर रहो, फिर सारी जिंदगी वे क्यों नहीं किराए पर रहती रहीं, क्या जरूरत थी घर बनाने की?

ईंट-गारे की यह जड़ चीज...फिर भी क्या है इसमें कि उसके जाने के बाद कोई वजह ही नहीं बचेगी इस बस्ती में आने की...पल भर को अँधेरा छा गया आँखों के सामने। यह तो मकान नहीं, पूरा गाँव निकला जा रहा था उनकी जिंदगी से, पूरी जिंदगी निकली जा रही थी उनके जीवन से। एक घर में न सही पर एक इसी मोहल्ले, इसी गाँव में वे बचपन में खेलीं, यहीं नौरी के साथ-साथ अध्यापकी चप्पलें चटकाती ट्यूशन करती घूमती रहीं; नाली नाककर एक गली से दूसरी गली, दूसरी से तीसरी—यही उनकी कर्मभूमि, संघर्ष-भूमि, जो भी कहिए। यह घर उनकी प्राप्तियों का उत्कर्ष...उन्हें मिला नहीं था, जैसे दद्दा को खुन्नी महाराज से मिला था। उन्होंने अपनी कमाई की रकम से खरीदा था संतू तेली से। यही उनका मायका, यही उनकी ससुराल! सब कुछ एकाएक समेट, किस बेरहमी से घर को बेचकर चली जा रही हैं वे...

"तुम बात करके तो देखो। यह छोटा कस्बा है, तुम्हारा शहर नहीं। यहाँ सभी लोग हमें मानते हैं। न जरूरत पड़े, फिर भी कहकर तो रखना चाहिए।"

एक बार फिर बात परे ढकेलने में वे कामयाब हो गई थीं... लेकिन बस उतना ही। भीतर पस्ती थी, शून्यता का एक घेरा क्रमशः बड़ा होता जा रहा था। मकान को बेचने का मतलब वे यहाँ फिर कभी न आएँगी...इस बस्ती में? आईं तो दो दिनों को भी इस घर में नहीं ठहर सकेंगी...लेकिन फद्दे का भतीजा आखिर क्यों इनकार करेगा, वे कोई मिल्कियाना हक नहीं माँग रही हैं, कोई मुस्तकिल चीज नहीं माँग रही हैं बच्चों के लिए, सिर्फ अपने जीने तक, ठहरना, दो-चार दिन का, साल-दो साल में कभी! उन्हें कितना जीना, कितना आना! क्या जुड़े होने का इतना महीन सूत्र भी नहीं रख सकतीं वे इस बस्ती से, जहाँ उन्होंने अपनी सारी जिंदगी खपाई है, अब बुढ़ापे में क्या उनका इतना हक नहीं बनेगा कि कभी-कभार आकर अपने घर में रह सकें?

एक अजीब चीज जो हो रही थी वह यह कि नंदू के पिता कुछ भी नहीं बोल रहे थे। खराब तो उन्हें भी लग रहा होगा—मकान बेचने की बात चल रही है, यहाँ से हमेशा के लिए जाने की बात चल रही है। जरूर कुछ महसूस करते होंगे, कहते भले ही कुछ न हों। रात को खा-पीकर लेटे तो नंदू की माँ ने ऐसे बात छेड़ी जैसे कि बस पूछने के लिए पूछ ले रही हों। उधर से भी वैसा ही जवाब आया, हमेशा जैसा "मुझे क्या...तुम लोग होशियार हो, तुम लोग जानो। मैं तो तुम्हारे पीछे-पीछे हूँ...इतनी पार लगा दी, थोड़ा और लगा दो। हमें तो भैया, चार रोटी से काम...दो सुबह, दो शाम।"

"घर बिक जाएगा, तो यहाँ फिर कभी न आ पाओगे, सोच लो अच्छी तरह से..." इस बार नंदू की माँ ने थोड़ी आवाज तेज करके कहा।

तत्काल जैसे पत्ती भी नहीं खड़की। थोड़ी देर बाद एक कसमसाहट उठी उस तरफ। नंदू के पिता धीरे-धीरे उठकर चारपाई पर बैठ गए थे। काँपते हाथ में गिलास उठा सिरहाने रखे लोटे से थोड़ा पानी डाला। धीरे-धीरे दो घूँट पिया। रफ्तार इतनी धीमी कि जैसे संसार

का सारा समय हो उनके पास, पानी पीकर जैसे उन्होंने अपने भीतर ताकत इकट्ठी कर ली और पूछने लगे—"तुम्हारे दद्दा जिस घर में रहते रहे, उसमें कोई बाजपेई रहता है न अब?"

"हाँ...।" नंदू की माँ ने हुँकारी लगाई।

"और सुल्तन के घर में कौन रहता है आजकल?"

"वह घर रामखिलावन खटिक ने नहीं खरीद लिया रहा, भूल गए?"

"हाँ...लेकिन सुल्तन के बाप तो रईस आदमी थे, उन्हें बेचने की क्या जरूरत थी।"

उनकी बात रात के अँधेरे में जा टँगी, थोड़ी देर वहीं झूलती रही और गायब हो गई। दोनों चारपाइयों के बीच अब निस्तब्धता थी। नंदू के पिता लेटे नहीं, चारपाई से पैर लटकाए झूमते रहे काफी देर, फिर बोले—"शरीर से बड़ा होता है क्या घर? जब शरीर ही यहाँ छूट जाना है तो घर क्या...यहाँ तक नैया पार करा दी...जय हो इस घर की। अब आगे कोई दूसरा घर खींचेगा हमें, यह किसी और को खींचेगा। घर हमारे, तुम्हारे, किसके? वे तो रास्ते हैं...गुजर जाओ, फिर उनसे दूसरे गुजरें..."

नंदू की माँ चौंक गईं—इतनी साफ बयानी। वह आदमी जो एक ही बात बोलता था—"तुम्हारे पीछे चलना है, जहाँ भी जाना है।" उसने अपनी अशक्तता पहचान ली थी और पूरा विश्वास एक पर रख दिया। वे भी ऐसा क्यों नहीं कर सकतीं? क्यों नहीं कर सकतीं नंदू पर पूरा विश्वास...? क्यों नहीं वह ठीक से रखेगा? शायद उनमें अब भी अपने फैसले खुद करने का दंभ है। वे सोचती हैं, वे यहाँ जब चाहें आ सकती हैं—यह भ्रम है, क्या बिना किसी के साथ वे रेल की छोटी-सी यात्रा भी कर सकती हैं अब?

नंदू के पिता लेट गए थे। धीरे-धीरे वे भी निंदास में उतरने लगीं। आधी जाग, आधी नींद के बीच वे नन्ना के लिए कुछ बुदबुदा रही थीं...

"नन्ना! तुम तो मुझसे ज्यादा शक्तिशाली थे और तुम्हारे एक

नहीं चार-चार लड़के थे यहाँ! क्या हुआ तुम्हारे घर का...''

''इस बस्ती के बच्चे भी तो मेरे बच्चे हैं। जिस किसी के जनमने में मेरी माँ...उनके बाद, मैं पहुँच जाया करते थे, उन्हीं में से तो कोई रहेगा इस घर में...

''नन्ना खंडहर नहीं होगा यह घर, विश्वास रखो।''

पगडंडी

वहाँ पहुँचते ही बिजली गुल हो गई और सारे इलाके में अँधेरा छा गया। एक जैसे फ्लैटों की सटी-सटी एक-सी वे ऊँची इमारतें अँधेरे में दूहों-सी खड़ी दीखती थीं। जल्दी ही कुछ फ्लैटों में मोमबत्ती या बैटरी रॉड जल उठीं और काँचों पर जहाँ तहाँ रोशनी के छोटे-बड़े धब्बे उभर आए...जैसे अँधेरे में दूटों की पीली-पीली आँखें चमकती हों।

हमारी आहट सुन समर "ठहरो...ठहरो...मैं आ रहा हूँ" करता बाहर निकला। उसके हाथ में एक टॉर्च थी, जिसे रोशनी निकालने के लिए वह बार-बार झटक रहा था। टार्च से कोई रोशनी न निकलती। वह फिर झटकता, फिर भी कुछ नहीं...अँधेरे में उसकी छाया ऐसी दिख रही थी जैसे किसी पुराने बंगले का कोई बूढ़ा चौकीदार पुरानी लालटेन से झगड़ रहा हो।

हम कई सालों बाद मिल रहे थे।

फ्लैट निचली मंजिल पर ही था। हम भीतर आ गए जहाँ मोमबत्ती की रोशनी थी। वह एक हॉल था जिसमें करीने से सजे ड्राइंग और ड्राइनिंग दोनों थे। श्रीमती समर घर को हमेशा ही सजा कर रखती थीं। वे पहले बहुत गोरी थीं, अब रंग धुँधला गया था। समर भी बुढ़ा आया था—कनपटी से ऊपर काफी दूर तक बाल धुर सफेद हो गए थे और गले में झुर्रियाँ उतरा आई थीं।

"घर खूब अच्छा रखा है आपने," हमेशा की तरह—मेरी पत्नी ने हॉल का जायजा लेते हुए कहा, खुश-खुश...कि श्रीमती समर एकाएक

फफककर रो पड़ीं और पत्नी से चिपट गईं "अब घर क्या जी... वह देखिए..." उन्होंने दीवार से सटी एक मेज पर रखे लैंप की तरफ इशारा किया जिसका शेड थोड़ा मुड़ा हुआ, एक तरफ को लटका पड़ा था...और वे फिर रोती चली गईं, पत्नी को और गाढ़े चिपकाते हुए। अलग हुईं तो पत्नी का हाथ जोरों से दबा लिया, दबाये हुए ही उन्हें सोफे पर ले गईं और बगल में बैठ गईं, फफकती रहीं, रुक-रुककर...

"कभी सोचा नहीं था कि इस उम्र में...और वे फिर रोने लगीं—

समर और मैं पुराने दोस्त थे। हमारा एक दूसरे के घर आना जाना तब से था जब हम नौकरी में नए-नए आए थे और हमारी शादियाँ हुई थीं। तब हम दिल्ली में ही तैनात थे। हमारे बच्चे एक दूसरे के साथ बड़े हुए थे। फिर हम अलग-अलग अपनी नौकरियों के सिलसिले में दिल्ली से बाहर भटकते रहे, पर संपर्क बना रहा। अब जिंदगी के उतार पर मैं फिर दिल्ली पहुँचा था। जहाँ साल भर पहले रिटायर होकर समर बस चुका था।

रिटायर होने के समय समर अपनी नई जिंदगी के लिए बेहद उत्साहित था—सारी जिंदगी काम किया, अब आराम का समय आया है, जो मन चाहे वह करने का समय। हर मौसम के हिसाब से जिएँगे—गर्मियों की शामों में अल्हड़ सैर, बरसात में बरामदे से बैठकर बौछारें देखना, जाड़े की धूप में पसरकर मूँगफली खाना या संतरा चूसना। जो मर्जी आई वह पढ़ेंगे...यह नहीं कि इम्तहान के लिए पढ़ो या कि ऑफिस की फाइलों में आँखें फोड़ो। वह खासी व्यावहारिक बुद्धि का था और रिटायरमेंट के लिए उसने आर्थिक तैयारी पक्की कर ली थी। दो बच्चियाँ थीं। छोटी एक ठीकठाक नौकरी पर बंबई निकल गई थी और बड़ी बेटी निशा ने अपनी मनपसंद शादी कर ली थी। लड़का समर को जँचा नहीं था। उसने उस वक्त इस बारे में मुझसे थोड़ी-सी बात भी की थी—वह जब भी समर से मिलने आता, शराब से महकता होता था, ठीक से किसी कामधंधे से लगा भी नहीं है। समर शादी के लिए कैसे हाँ करे। अपनी तरफ से उसने

निशा को रोकने की काफी कोशिश की पर वह जिद्द पर थी...शादी उसी लड़के से हुई थी।

एकाएक श्रीमती समर ने आँसू पोंछे...और पति की तरफ मुखातिब होकर बोलीं—

"आप पुलिस स्टेशन फोन करिए न जी..."

हम चौंके। हैरानी मेरे चेहरे पर कुछ ज्यादा ही उछली तो समर ने खुलासा किया। शादी के बाद निशा के निक्कमे और पियक्कड़ पति ने उसे मारना-पीटना शुरू किया। मामला जब बहुत बढ़ गया तब निशा ने माँ-बाप को चिट्ठी लिखी और समर खुद जाकर ससुराल से निशा को ले आया। कुछ दिनों बाद निशा और उसके पति का चिट्ठी और फोन पर कुछ तयतवा हुआ और वह वापस ससुराल चली गई। माँ-बाप ने सोचा, चलो अब सब ठीक-ठाक चलेगा लेकिन वैसा कुछ नहीं हुआ। उल्टे एक सिलसिला चल निकला—निशा ससुराल जाती, कुछ दिनों ठीक चलता फिर मार-पिटाई शुरू हो जाती। निशा माँ-बाप के पास भाग आती। फिर पति किसी तरह मना लेता और वह उसके पास पहुँच जाती...वहाँ फिर वही सब कुछ शुरू। ऐसा करीब दो साल चला लेकिन इस बार जो निशा आई तो फिर लौटकर नहीं गई है। साल से ऊपर हो गया, यहीं है। ससुराल...पति से किसी तरह का संपर्क नहीं है। थोड़ा गुमसुम वह शुरू से ही थी, अब गुस्सैल भी हो गई है। हमारे आने के पहले किसी बात पर गुस्सा हुई, लैंप का वह शेड तोड़ा और तड़तड़ बाहर निकल गई थी...

"पुलिस स्टेशन फोन करिए न जी "श्रीमती समर ने दोहराया।"

"अगर वहाँ होगी तो फोन आ जाएगा...।" समर शांत-शांत बोला।

इत्तफाक कि तभी फोन की घंटी बजी। घबराहट की हल्की सिहरन पूरे हॉल में तैर गई जो मोमबत्ती की मद्धिम रोशनी में कुछ ज्यादा ही चुभी। सभी थोड़ा बेचैन हो आए। समर गला साफ करता हुआ उठा और आरोपित आत्मविश्वास के साथ फोन पर गया। उसने दो बार हलो...हलो...किया पर उधर से कोई आवाज नहीं। समर

ने फोन रख दिया। आकर बैठा ही था कि फोन की घंटी दोबारा बजी। समर उसी अंदाज में फोन पर फिर गया पर इस बार भी वही। उसने कई बार हलो किया पर शायद दूसरी तरफ फोन काटा जा चुका था।

"पुलिस...क्या निशा को ढूँढ़ने के लिए?" मैंने श्रीमती समर से पूछा।

"नहीं...वह वहाँ होगी, शायद...कुछ साथ लेकर भी नहीं गई है"...उन्होंने खोए-खोए कहा।

"मगर वह पुलिस स्टेशन में ही क्यों होगी।"

"धमकी देकर गई है कि पुलिस स्टेशन जा रही हूँ, शिकायत लिखवाने"—समर ने साफ-साफ बता डाला।

"शिकायत? किसके खिलाफ?"

"हमारे खिलाफ...और किसके।"

माँ-बाप के खिलाफ शिकायत, सो भी पुलिस स्टेशन में? मेरे जेहन में कई चित्र घूम गए। किस तरह जब बच्चे बड़े हो रहे थे, स्कूल जाते थे, ये दोनों बच्चियों के साथ खटते थे। जाड़े के दिनों में सू-सू करते हुए बड़े सुबह उठना, उन्हें नहलाना-धुलाना, कपड़े पहनाना, नाश्ता तैयार करके खिलाना। स्कूल-बस का उनके साथ इंतजार करना, दोपहर को फिर लेने जाना, स्कूल के होमवर्क के लिए वह सब पढ़ना जो वे कब पढ़े थे और भूल भी चुके थे। जैसे संपूर्ण दिनचर्या ही बच्चों के इर्द-गिर्द थी...और यह सब उन वर्षों में जो समर और उनकी पत्नी के जीवन में अपने लिए कीमती वर्ष थे। तब किसने सोचा था कि एक दिन ऐसा भी आएगा जब एक बच्ची माँ-बाप की शिकायत लिखवाने थाने जाएगी।

"वह कहती है कि इन्हें जेल भिजवाकर रहेगी।" श्रीमती समर बोलीं।

"तो भिजवा दे...चले जाएँगे, जेल में रहेंगे...और क्या। इतना झेला है तो वह भी सही।"

समर थोड़ा तीखा होकर बोला। उस तीखेपन के नीचे अपार

वेदना छिपी हुई थी।

"आप लोगों से क्या शिकायत हो सकती है उसे?"

"शिकायत नहीं, शिकायतें हैं"—समर ने कहा—"हमने उसे कम प्यार दिया छोटी की तरफ ज्यादा ध्यान दिया जिससे छोटी निकल गई वह रह गई। उसे क्यों नहीं ऐसी तैयारी दी कि वह आज अच्छी नौकरी पर होती। अगर हम शादी के खिलाफ थे तो नहीं होने देनी थी शादी। शादी हो गई, बिगड़ी तो सुधारना था। अब भी क्यों नहीं सुधारते। उसकी जिंदगी में जो बरबादी हुई, उसके कारण हम हैं। हम माँ-बाप नहीं दुश्मन हैं—कहती है वह।

"हम कहते हैं तलाक ले लो, उसके बाद नई जिंदगी शुरू करो...आजकल क्या कुछ मुश्किल है जी, तो उसके लिए तैयार नहीं..." श्रीमती समर कह रही थीं।

तभी फोन फिर बज उठा। इस बार समर के हलो पर उधर से जवाब आया। कोई निशा से बात करना चाहता था। समर ने कह दिया कि वह घर पर नहीं है और आकर मुझे बताने लगा "इस इमारत के ऊपर एक गैस्ट हाउस है। एक अफ्रीकन लड़का निशा को वहाँ बुलाता है। "मैं जाऊँ?" निशा ने एक रोज पूछा था। मैंने साफ-साफ कह दिया कि अगर वह गई तो इस घर के दरवाजे उसके लिए हमेशा-हमेशा के लिए बंद। आखिर एक सीमा होती है किसी भी चीज की"...

फोन जो थोड़ी देर पहले दो बार बजा था, इसी अफ्रीकन का रहा होगा। मैं सोच रहा था, क्या बीत रही होगी माँ-बाप पर जो लाड़-प्यार से पाली गई अपनी बच्ची को अपनी आँखों के सामने धीरे-धीरे कॉलगर्ल बनते देख रहे हैं—देखे जा रहे हैं, कुछ नहीं कर सकते। कहाँ कमी रह गई उसकी परवरिश में...या कि बस यह काल है जो निशा को उस तरफ घसीट रहा है...

"वह हमें हर तरह से जलील करना चाहती है।" समर भुनभुना रहा था।

सारा मामला कितना ऐंठा और गंसा हुआ था...कि निशा माँ-बाप

को सताने के लिए इस हद तक जाने की सोचती थी।

तभी बिजली आ गई, और वातावरण थोड़ा हल्का हुआ। घर जो अब तक धुँधला और रुआँसा था, बिजली की रोशनी में साफ दिखाई देने लगा...जैसे आँसुओं के धब्बों से भरे मुँह को धो डाला गया हो।

"चलो बाहर एक चक्कर लगाकर आते हैं..."

समर उठ गया, पीछे-पीछे मैं। पहले उसने घर दिखाया। जिस हॉल में हम बैठे थे, उसी में खुलता उनका बैडरूम था...जो उतना ही करीने से लगा था जैसे कि हॉल के ड्राइंग और डाइनिंग। कमरे की एक दीवार किताबों की लंबी अलमारी से ढँकी थी। किताबें ही किताबें। समर रिटायरमैंट में खूब पढ़ने और लेख वगैरह लिखने की सोचता था। उसने पढ़ने के लिए न केवल किताबों की एक लंबी फेहरिस्त बना डाली थी, उन किताबों को लाकर अलमारी में सजा भी लिया था। किताबों से एक अलग तरह की आभा निकलती थी जो जैसे उस घर में फैले तनाव को गरिमा की रेखा पर रोके हुए थी, वर्ना तो अब तक उन तीनों को पागल हो जाना चाहिए था...

"यह उसका कमरा है..." समर ने भक्क से बगल का कमरा खोल दिया।

यों उतना ही बड़ा जितना कि उनका बैडरूम, पर जगह एकदम नहीं दिखती थी वहाँ। अजीब कैफियत थी उस कमरे की। दरवाजे के दोनों तरफ दो खाली मेजें रखी थीं जिन पर धूल थी...जैसे अंदर से सिटकनी लगाना काफी न माना जाता हो तो दोनों तरफ से दो मेजें भेड़कर कमरे को भीतर से अच्छी तरह बंद कर लिया जाता हो। कमरे के बीचों-बीच एक डबल बैड था जो दिखता ही नहीं था। उस पर तरह-तरह का सामान पड़ा हुआ था—उतारे हुए कपड़े, कुछ धुले जैसे कपड़े जिनके पास इलैक्ट्रिक आइरन, सिलाई की मशीन जिसमें अधसिला एक कपड़ा लगा था। मशीन के सामने कोरे कपड़ों के टुकड़ों का ढेर था...जैसे कोई एक पर एक कपड़ा सिलते चले जानेवाला हो। एक तरफ कुछ किताबें-कॉपियाँ, तो एक तरफ पेंटिंग

के लिए रखे कागज—उनमें से कुछ में पेंटिंग की भी गई थी...पेड़, घर, जंगल जैसी चीजें बनाई गई थीं। एक में झाड़ों के जंगल से झाँकता खूंखार जानवर। चित्र नौसिखिये के जैसे थे—साधारण, ज्यादातर अधूरे। ऐसा एक भी नहीं जिसे लगकर पूरा किया गया हो। बैड पर दो प्लेंटे भी रखी थीं, जिनमें एक में बिस्कुट का बचाखुचा चिरकुन और एक में डबल रोटी के किनारेवाले कड़े हिस्से पड़े थे—रोटी को बीच से कुतर-कुतरकर खाया गया था, जैसे वह आदमी नहीं किसी जानवर का काम हो...

एक पूरी की पूरी दुनिया उस पलंग पर औंधी पड़ी हुई थी।

दीवारें सपाट सूनी, खुली अलमारी में कुछ कपड़े इधर-उधर यूँ ही ठूँसे हुए, मेजों पर धूल, खिड़की पर मैले पर्दे, एक पर्दा तीन छल्लों से छिना भद्दे ढंग से नीचे झूलता हुआ और वह पलंग...

घबराकर मैं बाहर निकल आया।

"कमरे में जरा भी तब्दीली के खिलाफ है वह, हिंसा पर उतर आती है। महरी तक को सफाई के लिए अंदर नहीं आने देती।" समर कह रहा था।

हम घर के बाहर इमारतों के बीच बने छोटे लॉन से होते हुए सड़क के किनारेवाले बड़े लॉन पर आ गए। समर की नजरें पेड़ों के नीचे, रेलिंग और बेंचों पर निशा को ढूँढ़ रही थीं। निशा पढ़ी लिखी थी पर वह कुछ भी कर सकती थी।

"तुम जानते हो मेरी तंदुरुस्ती काफी ठीक-ठाक रही है। कभी नींद की, हाजमें तक की कोई शिकायत नहीं रही। अब नींद के लिए हम दोनों को गोलियाँ लेना पड़ती हैं...रोज।"

यह वह समर नहीं था जिसे मैं जानता था—हर लिहाज से एक पुख्ता आदमी—भावुक कतई नहीं, एकदम तार्किक ढंग से सोचनेवाला। ईश्वर से ज्यादा अपने कर्म पर विश्वास...आत्मविश्वास से भरपूर। जो मेरे साथ चल रहा था वह घबराया हुआ, चिंतित, भीतर से टूटा हुआ शख्स था...झकझोरा गया एक दरख्त।

"वह कहती है कि हमें सबक सिखाकर रहेगी। पुलिस स्टेशन

जाने की धमकी बराबर देती है, कहती है हमें जेल भिजवाकर रहेगी। हम कातिल हैं।"

"कातिल?"

"उसके पेट में बच्चा था। वह गिरवा दिया...इसलिए। अब जिससे तुम्हारी शादी टूटनेवाली है, उसका बच्चा तुम कैसे और कहाँ तक ढोओगी। जिससे अलग होना है, उसे जोड़नेवाली एक चीज पाल ली जाए...यह कहाँ की अकलमंदी हुई। उसका पति बच्चे को लेकर बराबर परेशान करता रहता। आगे आनेवाली जिंदगी के लिए बच्चा भारी अड़ँगा बन जाता।

वह निशा को एक जुड़ाव, उसकी जिंदगी को एक मकसद भी तो दे सकता था और शायद तब वह इस तरह पागल-सी न घूमती। मुझे सहसा निशा से सहानुभूति हो आई। वह बच्ची जिसे एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे हादसे से गुजरना पड़ा—इतनी छोटी सी जिंदगी में।

पहाड़-सा दुःख ऊपर था...उन तीनों के। उनके जीवन में सब कुछ था पर कुछ नहीं था। जो ऊपर लदा था वे उससे निकलने की कोशिश भी नहीं कर पाते थे—न बुद्धि से चल पाते थे, न पूरी तरह खुद को परिस्थिति के हवाले कर पाते थे।

"मुश्किल यह है कि वह बात तक नहीं करती, न मुझसे, न अपनी माँ से। दिनों दिन निकल जाते हैं। कभी कुछ ज्यादा कुरेद दिया तो तोड़-फोड़ पर उतर आती है। मुझसे तो खासी चिढ़ है, क्योंकि वह सोचती है कि जो-जो उसके साथ हुआ उसका जिम्मेदार मैं हूँ। मुझे हर चीज में आगे जो होना पड़ता था। बच्चा गिराने के लिए मैं ही जिम्मेदार। इसलिए मैं नहीं रहता तो वह थोड़ा-बहुत ठीक रहती है, अपनी माँ से कभी-कभी बात कर लेती है। हमारे लिए वही बहुत होता है..."

समर की आवाज भीग आई थी, स्वरलहरी में हलका कंपन था...जैसे जाड़े की बारिश भरी हवा से पत्तियाँ सिहर-सिहर उठती हैं।

"मुझे कलकत्ता में एक नौकरी मिल रही है..." उसने स्वयं को स्थिर करके आगे कहा—"कभी सोचा नहीं था कि रिटायर होने के बाद कुछ करूँगा, पर अब सोचता हूँ चला जाऊँ। शायद मेरे न होने से चीजें कुछ सुधरें।"

"भाभी जी पर सारा दबाव आ जाएगा। अकेले सँभाल सकेंगी वे?"

"यही तो...मैंने सारी जिंदगी अपने परिवार को ऐसी सुरक्षा में रखा है कि क्या कोई रखेगा। पत्नी को आदत नहीं है। मुझे भी अकेले उसे या बच्चों को छोड़ने की आदत नहीं है पर यह पक्का है कि मेरे आसपास रहने से निशा ज्यादा उखड़ी रहती है। तुम क्या सोचते हो—जाऊँ, मैं ही हट जाऊँ सीन से?"

वह व्यक्ति जिसे मैंने जिंदगी को जैसे मुट्ठी में कसे हुए देखा था, वह लाचारी से मेरी तरफ तक रहा था। जिसकी धुरी पर उस परिवार का सब कुछ घूमता था, वह परिवार से अलग हो जाने की सोचता था। इस उम्र में रिटायर होने की आदत के बाद फिर से काम पर जाना...वह झेल सकेगा?

निशा उधर कहीं नहीं थी। हम थोड़ा और इधर-उधर देख-दाख कर वापस आ गए। दोनों महिलाएँ उसी जगह, वैसे ही बैठी हुई थीं जैसे हम उन्हें छोड़कर गए थे। हम भी वापस अपनी-अपनी जगह ठीक उसी तरह बैठ गए...जैसे परिवर्तन की हल्की हवा की भी गुंजाइश उस परिवेश में नहीं थी। थोड़ी देर में घंटी बजी। हमारी जान में जान आई—शायद निशा आ गई थी। समर ने तेजी से उठकर दरवाजा खोला। कोई अजनबी था। किसी फ्लैट का पता पूछा रहा था।

कुछ देर बाद ही घंटी फिर बजी। इस बार जो समर ने दरवाजा खोला तो एक अधेड़ स्त्री के साथ निशा थी। स्त्री धीमी चाल चलती हुए हमारी तरफ आई, जबकि निशा तेज-तेज, सीधा अपने कमरे की तरफ चली गई। वह हमें अच्छी तरह जानती थी पर जाहिर था कि वह अब जहाँ थी वहाँ—आकर हमसे मिलना, हलो या ऐसी दूसरी शिष्टताएँ/औपचारिकताएँ...ये सब बेमानी क्रियाएँ थीं उसके

लिए। दरअसल इन चीजों का अस्तित्व ही नहीं था उसकी दुनिया में। उसकी कद-काठी पहले जैसी ही थी। पर चेहरा बेहद कसा निकल आया था, जैसे एक-एक यातना जो उसने भोगी थी वह तार-तार, खिंची हुई उसके चेहरे पर चस्पा थी...आकारहीन। उसका चेहरा उन तारों के नीचे कहीं दबा पड़ा था—बेमतलब नाकनक्श जिनसे कहीं कोई भाव नहीं उठते थे।

सीधा जाकर उसने स्वयं को धड़ से अपने कमरे में बंद कर लिया। अधेड़ स्त्री उन लोगों की अंतरंग पड़ोसी थी। उसने निशा को कहीं अँधेरे में अकेले बैठे देखा तो समझा-बुझाकर इधर ले आई थी। हमारा उससे परिचय हुआ।

जिस अंदाज और आवाज में निशा ने अपने कमरे का दरवाजा बंद किया था, वह साफ इशारा था कि हमसे आकर मिलना तो दूर उसे हममें कतई दिलचस्पी नहीं है। वह यह भी नहीं चाहती कि उसके एकांत में खलल डाला जाए। फिर भी मैंने श्रीमती समर से पूछ लिया।

"क्या हम उससे मिल सकते हैं?"

"बेकार है जी। वह नहीं मिलेगी, कोई बात नहीं करेगी। आपका अपमान करेगी। ज्यादा चिढ़ गई तो क्या पता तोड़-फोड़ कर डाले। कुछ फेंककर आपको मार ही दे।"

"कोई रास्ता है? आपसे तो वह बात करती है। मैंने अधेड़ स्त्री से पूछा।

"क्या पता...ये ज्यादा अच्छा समझते हैं"...उसने समर और श्रीमती समर की तरफ इशारा कर दिया।

"वह क्या चाहती है, आपसे तो बात करती होगी, आपसे कुछ कहती होगी...

"ये बातें वह नहीं करती।"

"यही तो मुश्किल है"...समर ने कहा..."वह बैठे, बात करे, बताए आखिर क्या चाहती है। हमें नहीं किसी को भी बताए। दसियों रास्ते निकल सकते हैं।"

समर निशा को बुद्धि से काम करनेवाली एक साधारण लड़की समझ रहा था, जबकि वह उस सबके पार निकल चुकी थी। बुद्धि उसे कैसे सँभाल सकती थी—चाहे वह उसकी अपनी हो या किसी और की दी गई।

तभी निशा के कमरे का दरवाजा खुला, वह सामने के बाथरूम गई...और पता नहीं किस अंतःप्रेरणा से, बिना कुछ पहले से सोचे, झटके में "एक मिनट" कहकर उसके कमरे में चला गया। पीछे छूटे चार लोगों पर तब क्या बीती होगी मैं जान नहीं पाया—जरूर अधेड़ महिला को छोड़कर बाकियों के चेहरे उड़ गए होंगे, महिला शायद निर्विकार रही हो। मैं आ गया था...निशा के लिए कुछ नहीं कर सकता था, उसके पास बैठ तो सकता था।

उस कमरे में फिर, जहाँ से मैं एक तरह से भाग गया था, कुछ समय पहले। डर की हलकी रेंग भीतर महसूस की पर अब आ गया था, लौट नहीं सकता था। दो-तीन मिनट इंतजार वहाँ दिन भर इंतजार सा लगा। खुद को व्यस्त करने के लिए मैं निशा के बनाए वे अधूरे चित्र देखने लगा। उनमें एक अजीब चित्र था—एक बेडौल आम का जैसा पेड़, उसकी एक डाल पर एक छोटा-सा बच्चा...,एक टाँग नीचे की ओर लटकी, इस तरह जैसे अब गिरा अब गिरा...फिर भी वह एकदम ऊपर आसमान की ओर ताक रहा था। तभी आहट हुई, मैंने घबराकर वह चित्र दूसरे चित्रों में मिला दिया।

निशा थी। उसने गुस्से से मुझे देखा। "हलो बेटे। तुम्हारे चित्रों को देख रहा था। अच्छे बने हैं। कुछ अधूरे हैं, शायद तुम उन पर कुछ और काम करनेवाली हो। मेरे एक दोस्त पेंटर हैं, तुम उनसे मिल लो। वे तुम्हें..."

"मुझे किसी से नहीं मिलना...थैंक यू..." उसने अंकिल वगैरह कुछ नहीं कहा। थैंक यू भी इस तरह बोला था जैसे कह रही हो रास्ता नापो। मुझसे गलती हो गई थी। सलाह या समझाने से बचना चाहिए था। मैंने बात सँभालने की कोशिश की—

"हाँ यह भी ठीक है। हर कलाकार की जीनियस अपनी अलग

होती है। पर पिउ बेटे एक पेंटिंग तो मैं अपने लिए ले जाना चाहता हूँ।

"कोई जरूरत नहीं..."

"उसे बरामदे में लगाऊँगा। देखो...ये वाली..." मैंने जंगल और एक पगडंडीवाला चित्र उठा लिया..."इससे मेरे बरामदे का नक्शा ही बदल जाएगा।"

"ये तस्वीरें कहीं नहीं जाएँगी।"

"तुमने एक भी चित्र टाँगा नहीं यहाँ। इसलिए ऐसा कहती हो। टाँगकर देखो..."

"ये यहाँ ऐसी ही रहेंगी। अच्छा मुझे कपड़े बदलना है अब"...

"यह बहुत अच्छी बात है कि तुम्हारी कल्पना इस वक्त उठान पर है। एक पर एक चित्र उतरते चले आएँगे। ईश्वर की पता नहीं कैसी मंशा कि हर कलाकार की जिंदगी दुःखों से भरी होती है... लेकिन फिर दुःख से ही निकलता है यह सब...

मैं सुनी-सुनाई, रटी-रटाई चीजें बोल रहा था। वह चित्र बनाती जरूर थी लेकिन ये बातें न उसने कभी सुनी न सोची होंगी। उसे पहली बार लगा होगा कि चित्र बनाना कोई बड़ा काम हो सकता है। मैं यह मानकर चलता था कि उन बातों का उधर कोई असर नहीं होगा...पर इत्तफाक या कि क्या—दुःख का जिक्र होते ही उसके चेहरे पर शिकन पड़ी थी। चेहरा तरल हो आया जैसे कोई आत्मीय सामने होता तो उस वक्त वह खूब रो लेना चाहती...काश ऐसा कोई होता। पर एक क्षण में ही वह तरलता गायब हो गई और वहाँ पहले जैसा कठोर चेहरा उभर आया। पेश्तर इसके कि वह फिर मुझे जाने को कहती, मैं आगे बढ़ गया...

"आज के जमाने में नौकरी करना, रुपए कमाना ही काम से लगा होना माना जाता है। यह गलत है! चित्र बनाना उनसे बड़ा काम है—ज्यादा ईमानदार, ज्यादा दिनों तक रहनेवाला, ज्यादा लोगों को सुकून देनेवाला...

निशा बातों में थोड़ा बहने लगी थी...पर उसके एकांत में किसी

ने दखल दिया था, उसे यह भी आशंका होगी कि मेरे पीछे-पीछे दूसरे भी उसके कमरे में आ सकते हैं...जैसे ही उसे इस सबका ख्याल आया उसने खुद को समेटा और खड़ी-खड़ी टोन में पहले की तरह कहा—

"मुझे कपड़े बदलने हैं।"

"ओ. के. तो मैं वह तस्वीर ले जाऊँ? मुझे बहुत पसंद है वह।"

"उठा लीजिए...कोई भी, और जाइए, थैंक यू।"उसने लापरवाही से कहा।

"मुझे यही चाहिए।"

मैंने जान-बूझकर बच्चेवाली तस्वीर नहीं उठाई। तब मैं ऐसे किसी तार को छू देता जो उसके भीतरी कोने का था...निहायत व्यक्तिगत। मैंने पगडंडीवाला चित्र ही उठाया। पगडंडी...उसके लिए, मेरे लिए, हमारे लिए...जिससे आगे का रास्ता खुले...शायद।

"थैंक यू बेटे।"

मैंने उसके सिर पर हाथ रखा। मेरे भीतर प्रार्थना थी।

साथ-साथ

उसने फिर कहा, "मैं दिलीप बोल रहा हूँ...दिलीप..." फोन पर जो आवाज आ रही थी वह परिचित कतई नहीं थी। उसमें हलका-सा कंपन था, उतावली छलक-छलक पड़ती, खासतौर से उस क्षण जब वह अपने नाम को रेखांकित करता।

"दिलीप सक्सेना...अरे भाई! दिलीप कुमार सक्सेना। सबेरे तुम्हें फोन किया था, तुम घर पर नहीं थे, भाभी जी ने उठाया था, बताया कि तुम बाहर गए हो, एक घंटे में आओगे। पिछले महीने कर्वी गया था, प्रिंसीपल साहब से मिला था। तुम्हारे बारे में बातें हुई थीं, उन्हीं से पता चला कि तुम दिल्ली में हो,...मैंने कहा अरे मैं तो दिल्ली आता-जाता रहता हूँ। प्रिंसीपल साहब बहुत अच्छे आदमी हैं बेचारे!" लगभग एक साँस में वह कह गया।

मुझे याद आ गया। हम दोनों कर्वी के कॉलेज में प्राध्यापक थे। एक और सक्सेना था अपने साथ...तीनों तब जवान थे और तीनों की वह पहली नौकरी थी। उन दिनों हमारा एक ग्रुप था। प्रिंसीपल साहब हम तीनों में मुझे ज्यादा पसंद करते थे...पर हम तीनों ही मिलकर उनकी खिल्ली उड़ाया करते थे। आज पहली बार उससे प्रिंसीपल के लिए कुछ अच्छा सुन रहा था। उन दिनों हमने कॉलेज के प्रांगण में बैडमिंटन का कोर्ट भी बनाया था, क्योंकि कर्वी एक छोटा-सा कस्बा था और वहाँ समय गुजारना ही एक खासा बड़ा काम था। हमने जमीन के उस टुकड़े की घास निकलवाई, उसे समतल करवाया, लाइनें डालीं, खंभे गड़वाए...तीनों ने साथ मिलकर।

"अरे दिलीप कैसे हो यार...कहाँ। कोई खबर नहीं, इतने दिनों तक। कहाँ से बोल रहे हो?..."

"दिल्ली से।"

"तो मिलोगे नहीं?"

"मिलने ही आया हूँ...बोलो कहाँ आऊँ?"

"जहाँ तुम चाहो, घर मेरा..."

"दफ्तर ठीक रहेगा...ग्यारह पर आ जाऊँ?"

मैंने उसे दफ्तर का पता वगैरह दे दिया।

उसने दफ्तर चुना, यह अजीब लगा। उसे घर आना चाहिए था...क्योंकि वह उन लोगों में से था जो उम्र बीतने के गवाह होते हैं, एक तरह से। हम तब साथ थे जब जिंदगी शुरू कर रहे थे। कर्वी कॉलेज से ही मैं सरकारी नौकरी में आ गया था। कुछ दिनों बाद सुना कि वे दोनों भी अलग-अलग बड़े कॉलेजों में लेक्चरर होकर चले गए थे। जिंदगी के शुरू में...और उसके बाद अब, जिंदगी के उतार पर! समय की कितनी बड़ी छलाँग!

दफ्तर पहुँचने में उसे थोड़ी देर हो गई। मैं भी काम में भूल गया...मुझे तो उससे मिलने कहीं जाना नहीं था कि याद रहता, अपनी जगह बैठे रहना था। दो घंटे बाद एक शख्स ने कमरे के भीतर झाँका। "यस...?" मैंने सवाल किया, चिरपरिचित सवाल जिसकी एक खास कर्कश सरकारी टोन अब तक मेरी आदतों में शुमार हो चुकी थी। अचकचाकर वह ठिठक गया। उसे मेरी इस मुद्रा की उम्मीद कतई नहीं रही होगी।

"मैं...मैं दिलीप...देर हो गई!" उसने लगभग दीनता के स्वर में कहा।

"अरे यार! मैं तो पहचान ही नहीं पाया, सॉरी। आओ आओ," मैंने उठकर उसका स्वागत किया। दिलीप बैठा लेकिन उसका आत्मविश्वास अब भी डगमगाया हुआ था...जैसे वह किसी गलत जगह पर गलत व्यक्ति के सामने था।

उसके सिर के करीब-करीब सारे बाल गायब हो गए थे। बढ़िया

लच्छेदार बाल थे वे जिन्हें उन दिनों एक छोटे-से कंघे से वह शीशे के सामने खड़ा सँवारता रहता था...दिन में कभी भी, कितनी बार, जहाँ भी शीशा मिला। हिप पॉकेट में उसका छोटा कंघा बराबर रहता। यहाँ तक कि कॉलेज खत्म कर घर घुसने पर भी वह पहले शीशे के सामने जा खड़ा होता और बाल सँवारने लगता। अपने खूबसूरत बालों से प्यार था उसे। अब आँखों पर चश्मा था और गले के नीचे झुर्रियाँ काफी उभर आई थीं जिनसे वक्त की मार जो इस बीच पड़ी थी वह बोलती थी। कमीज के नीचे छाती के सफेद बाल इधर-उधर दिखाई पड़ते थे...इक्का-दुक्का...सब अलग-थलग छाती पर हल्के से हिलगे हुए।

"और कैसे हो?" मैंने गर्मजोशी से पूछा।

"अगर बाहर तुम्हारा बोर्ड न होता, तो मैं तो तुम्हें पहचान ही नहीं सकता था। तुम इतना बदल गए हो..." उसने कहा। वह अब भी सकपकाया हुआ था।

तो वह भी मुझे देख रहा था, जैसे मैं उसे देख रहा था। मिला रहा होगा...जो मेरी तस्वीर उसके जेहन में थी और जो अब उसके सामने थी। हम नहीं देख पाते जो हो गए वक्त के चलते...क्योंकि दूसरों की नजरों से नहीं देख पाते। काश कि देख सकते!

"कहाँ हो आजकल?"

"वहीं देहरादून...और कहाँ जाना!"

जैसे वह यह मानकर चलता था कि मुझे पता होगा किन पड़ावों को तय करते हुए वह आखिर देहरादून पहुँचा...क्या उसे मेरे बारे में पता था जिस-जिससे मैं इस बीच गुजरा?

"अब तो प्रिंसीपल होगे पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज में, कम-से-कम।"

"हाँ हो सकता था, पर तीन महीने पहले रिटायर हो गया," वह एक साँस में कह गया। उसकी दीनता...सकपकाहट...लाचारी का-सा अंदाज इस वजह से था कि वह प्रिंसीपल नहीं हो पाया, या इसलिए कि वह रिटायर हो गया था या कि इसलिए कि वह तो रिटायर हो गया और मैं अब भी सर्विस में हूँ और अच्छे ओहदे

पर...मैं तत्काल कुछ तय न कर पाया। हो सकता है दीनता जो मुझे दिखाई दे रही थी वह दरअसल उम्र थी—मैंने उसे तब देखा था जब वह आत्मविश्वास से भरपूर था, उसके बाद आज देख रहा था।

"देहरादून तो बड़ी अच्छी जगह है, मकान बनवा ही लिया होगा तुमने।"

"हाँ, बहुत पहले।"

"एक जगह रहने का यह बड़ा फायदा है। मैं तो भटकता ही रहा सारे हिंदुस्तान में। अब अखरता है कि कहीं अपनी जड़ें ही न रहीं।"

"मकान अच्छा है...शहर के पॉश इलाके में है। छोटा जरूर है पर अपने लिए काफी है। मियाँ-बीवी दो ही तो रह गए हैं।"

"बच्चे?"

"एक लड़का और एक लड़की है। लड़के ने इंजीनियरिंग कर ली, भिलाई में है और बेटी की शादी हो गई है।" लपरलप्प जल्दी-जल्दी बोलना...पहले की ही तरह था उसका। अच्छा है कुछ चीजें तो नहीं बदलतीं। उसका वह लपरलप्प अब ज्यादा खूबसूरत लगता था...बच्चे की तुतलाहट उगती चली आ रही थी उसमें से। वह एक खूबसूरत बूढ़ा होगा...मैं सोच रहा था, बुढ़ापे में भी हम खूबसूरत क्यों नहीं हो सकते। मैं उसका अच्छा सोच रहा था या खुद को दिलासा दे रहा था।

"मेरी पत्नी...श्रीमती प्रभा सक्सेना अब भी पढ़ाती हैं। दोनों ही देहरादून में थे, सब अच्छा चल रहा था कि अब बेचारी का ट्राँसफर कर दिया गया जोशीमठ। अच्छे खासे अपने घर में बैठे थे। कहते हैं—नहीं, जाओ। कोई सिंह हैं जो करते हैं...तुम्हारे बैच के ही होंगे...तुम्हारा कौन-सा बैच था?...61 न? हाँ, उसी साल तो तुम चुने गए थे, कर्वी में थे। जब मुझे पता चला कि जतींदर सिंह 61 का है तो मैं समझ गया कि वह जरूर तुम्हारा साथी होगा।"

उसका लपरलप्प जो कुछ पलों पहले खूबसूरत लग रहा था, यकायक बदसूरत दिखने लगा। इसके पहले भी वह कई बार दिल्ली आया होगा, उसने कभी मेरे बारे में सोचा भी न होगा। अगर यह

काम न होता तो अब भी वह मुझसे मिलने कतई न आता। क्या हो गया है हमें, क्या हम काम से ही मिला करेंगे, पुराने दोस्त घनिष्ठ लोग भी? वह अपनी पत्नी के लिए मुझसे कह रहा था जिसे आज तक उसने मुझसे कभी नहीं मिलाया...मैं दिल्ली कई सालों से था, पहले भी रहा था और वह भी बहुत दूर नहीं देहरादून में, कई वर्षों से रह रहा था, पहले कभी मेरी खोज क्यों नहीं की।

"चाय पिओगे?" मैंने पूछा।

"नहीं चाय पीने की आदत नहीं है।"

"फिर भी...इतने दिनों बाद मिल रहे हैं, घर होता तो कुछ और छनती।"

हम दोनों ही खोखली हँसी हँसे। मैं फिर खौलने लगा...इतने दिनों बाद अकेले ही आया है। काम से ही सही, आया है तो घर आता। इतने वर्षों में उसके और मेरे साथ जो-जो हुआ, हम उसकी जानकारी लेते-देते। मेरी पत्नी का स्वास्थ्य कैसा है, मेरे बच्चे कितने हैं...क्या करते हैं...कुछ चिंता नहीं उसे।

"पानी काफी है," वह कह रहा था, "चाय की आदत क्यों रखी जाए जब पत्नी ही साथ नहीं रहनेवाली...हम दो ही बचे हैं साथ रहने को, और भाइयों को वह भी गवारा नहीं। यानी कि..."

"अरे यार..." मैंने बात को हल्का बनाते हुए कहा..."रिटायर होकर तो भाभी जी साथ रहेंगी ही, अभी तक रही ही हैं...क्या फर्क पड़ता है। इस बहाने एक नया स्टेशन देख लेंगी...कितनी नौकरी बची है उनकी?"

"तीन साल हैं अभी...बहुत टाइम है। कुछ महीनों की बात है क्या, कि अलग रहकर काट लिया जाए?"

"अरे तुम तो रिटायर हो चुके...तुम उनके साथ जाकर जोशीमठ में रह लो।"

वह आँखें फाड़कर मेरी तरफ देखने लगा—यह मैं कह रहा हूँ। मैं भी वही भाषा बोल रहा हूँ जो जतींदर सिंह बोलता या उसने बोली होगी अगर वह उसके पास पहले हो आया होगा। नौकरशाहों

की भाषा कैसे एक-सी हो जाती है। "...और घर को बरबाद हो जाने दूँ...जहाँ हमें आखिर में रहना है—क्यों?"

मैं खामोश हो गया, थोड़ी देर इंतजार किया कि उसका उबाल जो उठा था वह बह जाए। उसके बाद मैंने बात दूसरी तरफ घुमा दी, "छोड़ो भी यार...ये सब परेशानियाँ तो जब तक जीवित हैं तब तक रहेंगी...और सुनाओ, कैसी कटी...अरे भाई कर्वी गए थे तुम, पंडित चतुरानन जी की भी खोज-खबर ली कि नहीं? क्या रंगीन मिजाज थे पंडित जी। अधेड़ होने पर भी दूसरी शादी रचाई और क्या रस लेते थे! कैसे मजे से हम लोगों को अपनी नई पत्नी के नाज-नखरे बताकर प्रसन्न हुआ करते थे...याद है तुम्हें?"

उधर एक सूखी हँसी उगी जो उसके चेहरे को ठीक से रंग भी न पाई।

"आज जो हमारी उम्र है, उसके आसपास ही तो रही होगी तब पंडित जी की। एक हम हैं जो पचास पार करते ही कब्र में पैर लटकाए होने जैसी मुद्रा बना लेते हैं और एक अपने पंडित जी थे, यह होता है जीना...जिंदगी का बूँद-बूँद रस खींचना। अपन लोगों की भी क्या...पहले ढंग की नौकरी पाने में लगे रहे, फिर बच्चों को बड़ा करने, पढ़ाने और उन्हें जमाने में लग गए और इस तरह असमय ही बूढ़े हो गए।"

"तो क्या पंडित जी की तरह होना चाहिए...एक बीवी की औलादें, वह स्वर्गवासी हुई तो फट से दूसरा ब्याह और फिर उसकी औलादें।"

"हम किसी व्यक्ति के अंदाज से सहमत हों, न हों लेकिन यह सही है कि जिंदगी जो जीना है उसे हम भूलते जा रहे हैं, उलझे ज्यादा रहते हैं। तुमने एक बात नोट की...अब कम लोग ठहाके मारकर हँसते दिखाई देते हैं, कम लोग मस्ती में गाना गुनगुनाते दिखते हैं। हम यह सब भूलते जा रहे हैं। रसिया आदमी थे पंडित जी...अपनी तरह की मौज-मस्तीवाले...कहाँ हैं आजकल वैसे लोग? अब तो बहुत वृद्ध हो गए होंगे चतुरानन जी?"

"मालूम नहीं...कर्वी में नहीं हैं। प्रिंसीपल साहब ने बताया था

कि वे चित्रकूट में बस गए हैं।''

''यह तो और भी अच्छा हुआ। पहले गृहस्थवाली उम्र को बूँद-बूँद जिया और अब वानप्रस्थ में भी सही जगह पहुँचे। क्या बात है!''

''अपन ने तो तबीयत से एक घर बनाया...उसी में जिंदगी काट दी, बाकी भी वहीं निकल जाएगी।''

वह खिड़की के पार देखने लगा। बाहर दिन धूल भरे बादलों से पटता जा रहा था...वातावरण में अजीब उबास छाती जा रही थी। ऐसा लगता था कि कहीं कुछ गंस रहा है। भूरी-भूरी-सी धुँध चारों तरफ से ऊपर की ओर उठ रही थी, सूरज को पूरा घेर लेने की तैयारी में।

''पता नहीं यार, तुम्हारी कैसी चली। यहाँ तो...जब इस नौकरी के लिए कंपटीशन में बैठा और नियुक्ति मिली तब लगता था कि बस जन्नत के दरवाजे खुल गए। लेकिन यहाँ आकर देखा कि यह भी बस एक और नौकरी जैसी ही है। वही राजनीति, वही मार-काट, जातिवाद, प्रांतवाद और न जाने क्या-क्या। एक बार तो एक अफसर ने करीब-करीब मेरा कैरियर ही खत्म कर दिया था, मेरी वार्षिक रिपोर्ट खराब कर दी। पूरे दो साल उस तनाव में जिया...किस-किसके पास नहीं गया। किसी तरह प्रतिकूल प्रविष्टियाँ हटवा सका...जानलेवा संघर्ष था वह। वह रिपोर्ट ठीक न हो गई होती तो आज मैं यहाँ न बैठा होता जहाँ तुम देख रहे हो। ठीकठाक भी चले तो भी यहाँ कुछ नहीं है...बाहर से जो दिखता है वह है नहीं। जरूर तुम्हारी जिंदगी में भी...''

वह कुछ नहीं बोला, चुपचाप खिड़की के बाहर के धूल भरे मौसम को देखता रहा, जैसे उसने अपने अतीत पर हमेशा के लिए परदा डाल दिया था और किसी भी हालत में उसे उघाड़कर नहीं देखना चाहता था...तब भी नहीं जबकि मैं उसका पुराना साथी...गए वक्त के उसके संघर्ष, संघर्ष की यातना की हिस्सेदारी उसके साथ करना चाहता था। उम्र के इस मुकाम पर जहाँ से हम एक साथ पीछे देख सकते थे, जो कभी के जानलेवा संघर्ष थे उन पर हँस सकते थे, जो

जिंदगी गई उसका सर्वेक्षण कर सकते थे, एक तरह से जो बची उसके लिए एक-दूसरे को बल दे सकते थे...

"मैं तो अब सोचता हूँ कि हम लोगों से कहीं अच्छे प्रिंसीपल साहब रहे जिनकी हम तब आलोचना किया करते थे। शुरू से ही उनकी प्रवृत्ति बाहर से जुड़ने की थी...बाहर की चीजों में दिलचस्पी लेना, भले ही वह कॉलेज को आगे बढ़ाने की धुन हो। देखो, जो कॉलेज हमारे जमाने में तीन कमरों और हम चार अध्यापकों का था उसे बढ़ाकर पोस्ट ग्रेजुएट कर दिया, कोई सौ टीचर्स तो होंगे ही आज उसमें, उस क्षेत्र का सबसे बड़ा कॉलेज है...तीन तो हॉस्टल हो गए हैं..."

"वह तो उन्हें करना ही था क्योंकि वे उस क्षेत्र के थे, हम लोग बाहरी थे वहाँ।"

"बात इतनी भर नहीं है। हम अपने परिवार से ज्यादा चिपके रहते हैं। बच्चे हुए तो उन्हीं से ऐसे चिपकेंगे जैसे पहले तो किसी के बच्चे हुए ही नहीं थे..."

वह चुप लगा गया। किसी बहस में पड़ने का उसका मूड नहीं था। ठीक भी था। हम इतने दिनों बाद मिल रहे थे, बहस की कड़वाहट हमारी मुलाकात को खराब कर सकती थी।

सूरज अब पूरी तरह ढंक गया था। हल्की-हल्की धूल उड़ने लगी थी...बाहर के लोग आँखें बचाते हुए चल रहे थे, आँखें खुली रह गईं कि किरकिरी गई। आँधी नहीं थी...पर आँधी किसी भी क्षण आ सकती थी।

"तुम्हारी जतींदर सिंह से...?

"जान-पहचान भर है...यों कि हमारी नौकरी शुरू करने का समय एक है, हमने साथ ट्रेनिंग की थी...पर तीन सौ लोग ट्रेनिंग में थे और वह पैंतीस साल पहले की बात है।"

"बीच-बीच में मुलाकात तो हुई होगी, होती रहती होगी।"

"मुलाकात होती है इधर-उधर मीटिंगों में, पर उसके कोई मायने नहीं होते," मैंने काफी सूखे-सूखे कहा। दरअसल वह जिस तरह अपने तात्कालिक यथार्थ के एक बिंदु पर ही अटका हुआ था उससे मैं उकता

आया था अब तक। यों एक ही चीज पर नजर रखना जैसे उसी पर जिंदगी का सारा दारोमदार हो...इससे हम अपना ही सुख-चैन छीन लेते हैं जो इन तमाम दिनों हमारा हो सकता था। वह तो उखड़ा-उखड़ा था ही...कितने दिनों से होगा और कितने दिनों तक रहेगा...उसने हमारी वह मुलाकात जो कितने वर्षों बाद हुई और जो शायद जीवन में फिर कभी न हो, उसे भी तहस-नहस कर दिया था। वह मुलाकात हमारे जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना हो सकती थी।

"तुम उनसे एक बार बोल दो...प्रभा सक्सेना, डॉ. प्रभा सक्सेना ...ये रहे डिटेल्स" उसने एक कागज मेरी तरफ सरका दिया।

"मैं नहीं सोचता कि मेरी उससे इतनी जान-पहचान है कि सिफारिश कर सकूँ..." मैंने ठंडे-ठंडे कहा।

उस पर पहाड़-सा गिरना चाहिए था...पर वैसा कुछ नहीं हुआ, गोया कि वह इस तरह के अनुभवों का खासा अभ्यस्त था। हो सकता है पत्नी का तबादला रुकवाने के इस काम को लेकर ही वह कितनों के पास गया हो और उसे निराशा ही हाथ लगी हो...फिर भी उसकी बुनावट या कि आदत थी, वह लगा हुआ था, कोशिश-दर-कोशिश किए जा रहा था। अजीब बात यह थी कि उसके सामने मैं भी उसका पुराना साथी न होकर, एक संभावित मददगार ही था। हम दोनों दोस्त नहीं, यहाँ तक कि मनुष्य भी नहीं, पेशेवर लोग थे। और वह पेशेवर जुगाड़ बैठानेवाला और मैं चिकने पहलवान की तरह सफाई से निकल जानेवाला।

"जोशीमठ अपनी किस्म का हिल स्टेशन है, हवा-पानी बहुत अच्छा है..." मैंने आगे कहा।

उसके ऊपर-नीचे के दाँत आपस में चिपक आए, जिससे मुँह भिंचा हुआ-सा दिखने लगा...जैसे वह यह कहने की जरूरत नहीं समझता था कि देहरादून का हवा-पानी भी कोई खराब नहीं है।

"आँधी आएगी क्या?" थोड़ी देर बाद उसने पूछा।

"हो सकता है आए। यहाँ आए दिन आँधी आती रहती है। दिल्ली के बाहरी इलाकों के पेड़ों का सफाया हो गया है इसलिए

राजस्थान की रेत इधर बहती चली आती है। हो सकता है कुछ दिनों में यहाँ भी ऐसा हो जाए कि रोज घर से मनों धूल झाड़कर निकालना पड़े।"

"मुझे अभी रिजर्वेशन कराना है, वापसी के लिए।"

"तुम्हारी सेहत कैसी चल रही है? कर्वी के बाद खेलना चालू रहा कि बंद हो गया।"

"क्या रहा, क्या बंद हुआ...अब इस सबके क्या माने। जैसा हूँ तुम्हारे सामने हूँ। तुम्हें कैसा दिखता हूँ?"

"उम्र को देखते हुए ठीक हो।"

"तो बस...और क्या..."

साफ था कि उसका मन नहीं लग रहा था अब। मेरी तरफ से कोई भी बात अब उसे रस्म अदायगी ही लग रही होगी। सुबह फोन पर कैसी गर्मजोशी थी। कुछ ही घंटों बाद मिलने पर हम कैसे छूछे निकल आए एक-दूसरे के लिए।

थोड़ी देर इधर-उधर करके वह चला गया। पीछे छूट गया मैं, भीतर-भीतर भनभनाता। हम कभी साथ थे। उस समय हमारी कितनी मुलाकातें अंतरंग भी रही होंगी, कितनी चीजों के हम राजदार हुए होंगे, कितने दुख-सुख, तनाव—वे जो भी थे—हमने साथ बाँटे होंगे। आज क्या उन सबका कोई मूल्य नहीं था, ऐसे साथ का क्या कोई मूल्य नहीं होता जीवन में...बस उसकी पत्नी का महत्त्व है, उसके तबादले का महत्त्व है...

लेकिन मैं भी...मैंने भी तो उस पुराने अध्याय पर पानी फेर दिया जो उसकी मदद करने को नहीं उठा। वह अध्याय मेरे जीवन का भी तो कुछ था। मेरा उसके लिए कुछ न करना अपने जीवन में से भी कुछ मिटा देना था, भले ही वह कितना मामूली रहा हो। उसे नहीं मिटना चाहिए।

जतींदर सिंह को फोन मिलाने के लिए मैंने अपने पी.ए. को कह दिया।

उपचार

अँधेरे के किसी कोने में दो आँखें उगती हैं। जुगनुओं की तरह जलती-बुझती वे डॉ. राजपाल तक आती हैं। गहरी उदासी उनमें बर्फ की तरह जमी हुई...रोशनी की लौ नहीं वहाँ, जमी बर्फ से उठता धुआँ है। डॉ. राजपाल देखना नहीं चाहते, पर वे आँखें पीछा करती हैं उनका...''तुम, तुमने मुझे छोड़ दिया, तुम चाहते तो आज मैं होता...।''

कैसे...? पर हाँ, होने को क्या कुछ भी हो सकता था...डॉक्टर के पूरे जिस्म को जैसे कोई आरी चीर जाती है...।

वे दो थे। मैली मोटी चादरों में अलग-अलग लपेटे हुए लाए गए और उन्हें बरामदे में पाड़ दिया गया था। मोटी चादरों पर भी खून के धब्बे उछले हुए थे।

इत्तफाक कि डॉ. राजपाल हस्पताल में ही थे, किसी मरीज को देखने नहीं गए हुए थे। वह अंबाला जिले का एक छोटा-सा कस्बा था, हस्पताल एक पुरानी इमारत में था जो कभी किसी रईस का घर रही होगी। बरामदे का फर्श चिकना इधर-उधर से चटक गया था, पर अब भी पुराना था। दीवारों का पलस्तर जहाँ-तहाँ से ढह रहा था। डॉक्टर दो ही थे...जिसमें सर्जन तो डॉ. राजपाल ही।

किस्सा वही जो इन दिनों तकरीबन रोज सुना जाता था। गाँव में घर के बाहर पड़ी मूँज की चारपाइयों पर बैठे सात-आठ लोग...एक दो लेटे हुए भी। उतरती दोपहर की अलसाई धूप के साथ

ऊँघते-ऊँघते बातें चल रही थीं। जाने कहाँ से दो नौजवान प्रकट हुए, टक टक...टक टक टक... देखते-देखते सबको भूँजकर रख दिया। तेजी से भागकर वे सामनेवाले घर के ओट हुए और फिर मोटरसाइकिल की आवाज...दूर जाती हुई। कोई निशान नहीं।

जो लोग लेकर आए थे वे किस्से को और भी तफ्सील के साथ बताते पर डॉ. राजपाल ने ही उन्हें हाथ के इशारे से चुप कर दिया। कौन होंगे...आतंकवादी तो ही। व्यक्तिगत दुश्मनी या खानदानी रंजिश होती तो चुना जाता...यों ही नहीं जत्थे के जत्थे को ढेर कर दिया जाता। बाकी सब वहीं लुढ़क गए होंगे, दो ही यहाँ तक पहुँच पाए। नर्स को ऑपरेशन की तैयारी करने को कह कर वे मोटी चादर में लिपटे हुए शरीरों की तरफ बढ़ गए।

पहला अधेड़ था...पचास के आसपास। आँखें मुँदी हुई। गोली बायें बाजू को फाड़ती हुई पेट के किनारे घुस गई थी। बाजू में जो फटान थी, उससे लगता था गोलियाँ दो भी हो सकती हैं...एक ही तरफ से आए दो फायर। पेट में क्या होगा, यह तो एक्सरे से ही पता चल सकता था, पर उस छोटे से हस्पताल में एक्सरे कहाँ। ऑपरेशन करने पर ही दिखेगा...कितना, कहाँ और क्या है? आदमी का कुर्ता और लुंगी खून से लथपथ थे। खून बहना जारी था...ज्यादा बह गया तो एक अलग समस्या उठ खड़ी होगी, क्योंकि हस्पताल में खून का तत्काल इंतजाम नहीं था। आदमी कराह तक नहीं रहा था...जैसे अपनी नियति को स्वीकार कर चुपचाप मौत का इंतजार कर रहा हो। दूसरा अपेक्षाकृत नौजवान था, जोरों से कराहता था, चेहरा दर्द से खिंच-खिंच जाता। एक गोली कंधे के पुट्ठे पर और एक दिल के निचले हिस्से में लगी थी। ताज्जुब कि कैसे यहाँ तक पहुँच सका।

डॉ. राजपाल को सामने देखते ही उसके बुझते हुए चेहरे पर आशा का हल्का उजाला उग आया। मारनेवाले मार गए, बचानेवाला आ गया तो उसे बचा ही लेगा। अगर ताकत होती तो वह ऊँची आवाज से गिड़गिड़ाता भी। यह तो उसकी उम्र और गाँव के साफ खान-पीन का कमाल था कि वह दो-दो गोलियाँ जिनमें से एक खासी

नाजुक जगह पर लगी थी...झेल गया था।

दोनों को ही फौरन ऑपरेशन की जरूरत थी...पर डॉ. राजपाल एक, और हस्पताल में ऑपरेशन रूम के नाम पर एक भीतर का कमरा जिसमें ऑपरेशन की मात्र बुनियादी-सुविधाएँ। ऑपरेशन में देर हुई तो दोनों ही किसी भी क्षण खत्म हो सकते हैं। पहले ऑपरेशन के लिए किसे लें—डॉ. पशोपेश में पड़ गए। अधेड़ डूब रहा था, जब कि चोटें उसकी उतनी खतरनाक नहीं थीं। अधेड़ जीवन को काफी कुछ देख चुका था जब कि दूसरा अभी चढ़ान की चोटी पर है, जीवन उसके लिए ज्यादा कीमती है। कौन ऑपरेशन माँग रहा है—जिसके बचने के आसार हैं, वह निर्विकार पड़ा है, मौत का इंतजार करता हुआ और जो सचमुच मर सकता है, वह जीवन माँग रहा है।

डॉ. राजपाल नौजवान की तरफ बढ़ने लगे कि तभी डॉक्टर के उसूलों की किताब ने उन्हें पीछे से पकड़ लिया। वे स्वतंत्र मनुष्य नहीं हैं कि चाहे जिस आधार को उठा लें और उसके अनुसार फैसला कर लें। वे कौन होते हैं यह तय करनेवाले कि कौन जिएगा, कौन नहीं...और उन्होंने घायलों के साथ आए लोगों को बुलाकर कहा—"हस्पताल छोटा है, ऑपरेशन करनेवाला डॉक्टर मैं अकेला...जब कि उन दोनों का ही फौरन ऑपरेशन होना चाहिए। मैं एक समय, एक ही को हाथ में ले सकता हूँ...ऑपरेशन में समय लगेगा और तब तक दूसरे को कुछ भी हो सकता है। यहाँ कोई दूसरा सर्जन नहीं जिसके पास मैं दूसरे को फौरन भेज सकूँ। दूसरे कस्बे भेजा जाए—ऐसी हालत में कोई भी नहीं है। पहले ऑपरेशन उसका होना चाहिए जिसके बचने की उम्मीद सौ प्रतिशत है। इन्हें फौरन ऑपरेशन के लिए अंदर भेजिए।"

सीधा और साफ सोच। डॉ. राजपाल अधेड़ की तरफ इशारा करके ऑपरेशन के लिए तैयार होने को चलने लगे तो अपनी बची-खुची ताकत इकट्ठा कर जवान घायल पीछे से बोला..."और मैं डॉक्टर साहेब, तो क्या मैं मर जाऊँ?"

"तुम्हारा मरना-जीना न तुम्हारे हाथ में है और न मेरे। तुम

अभी इंतजार करो। मैं आता हूँ। तब तक नर्स तुम्हें सँभालेगी।"

घायल नौजवान की आँखों में उदासी के रंग उतर आए। उन रंगों के नीचे जीने की उद्दाम लालसा लहक रही थी...उसे बेवजह गोली मार दी गई, इसका धक्का भी उस वक्त उतना नहीं था जितना इस बात का कि डॉक्टर उसे बचा सकता है पर वह उसके लिए कुछ भी नहीं कर रहा...कितना क्रूर समाज!

डॉ. राजपाल उसे छोड़कर ऑपरेशन रूम में चले गए थे। ऑपरेशन में एक घंटा लग ही गया। नर्स को दूसरे ऑपरेशन के लिए तैयारी करने का कहकर वे सीधे बाहर बरामदे में निकल आए। घायल नौजवान को चादर से ऊपर तक ढँक दिया गया था। मोटी चादर जिस पर पहले इधर-उधर कुछ धब्बे थे। अब छाती और कंधों की जगह खासी गीली हो आई थी। चादर के नीचे हरकत नहीं थी, आस-पास रोना-सिसकना था। फिर भी डॉ. राजपाल तेजी से आगे बढ़े और मुँह से चादर को हटाया...वह जा चुका था, आँखें वैसी ही खुली हुईं...वही उदासी, वही आश्चर्य..."डॉक्टर साहब! तो क्या मैं मर जाऊँ?"

डॉ. ने अपने अँगूठे और उँगली से खुली आँखों को बंद कर दिया और सिर को चादर से वापस ढँक दिया..."इसे पोस्टमॉर्टम के लिए ले जाइए।"

एक ऑपरेशन रूम और जीवन के इस पार, दूसरा गोलियों की बौछार झेलकर आगे भी शरीर की चीड़-फाड़ की तरफ। जीवन की जरूरत ज्यादा किसे थी...वह जो बचा लिया गया या वह जिसे वे पोस्टमॉर्टम के लिए भेज रहे हैं?

घायल नौजवान की आँखें उन्होंने बंद भले ही कर दी हों, डॉ. राजपाल के आगे जैसे वे अब भी खुली थीं और पूछ रही थीं...।

आँखें डॉक्टर का पीछा बराबर करती हैं। वे काम से थोड़ा अलग हुए, थोड़ा ढीला उन्होंने छोड़ा खुद को कि आँखें सामने। उसका वह सवाल लहराता हुआ आता है और डॉक्टर के सामने झूलता रहता

है—तो क्या मैं मर जाऊँ? जैसे वह गोलियों से घायल होकर नहीं मरा, उस क्षण मर गया जब डॉक्टर ऑपरेशन के लिए उसे नहीं ले गए। हत्यारा कौन...क्या डॉक्टर राजपाल?

आत्मा की चुभन से तंग आकर डॉक्टर राजपाल एक दिन सबेरे-सबेरे उस गाँव को निकल पड़े जहाँ के वे दोनों थे। पता ठिकाना उस फार्म से मिल गया जिसे नर्स ने ऑपरेशन के लिए बनवाया था।

किसी भी गाँव जैसा गाँव...छोटा। उसका घर कैसे ढूँढ़ेंगे, नाम तक नहीं मालूम। यों ही इधर-उधर चलते रहे डॉ. राजपाल। अचीन्हीं निगाहों से लोग देखते रहे उन्हें। एकाएक आदमियों के एक छोटे से गिरोह से एक आवाज उठी—"जयहिंद डॉक्टर साहब।"

डॉक्टर राजपाल पहचान नहीं सके और ठगे से देखते रहे।

"नहीं पहचाने? मैं हरवंश सिंह...आपने मुझे बचा लिया था वरना आतंकवादियों ने तो मार ही डाला था। दो गोलियाँ निकाली थीं आपने...सिस्टर ने दिखाया था।"

ओह! डॉक्टर राजपाल बाहर से खुश हुए, जख्मों का हालचाल पूछते रहे। अंदर कोई दूसरी चीज कलथ रही थी—कितनी अजीब बात कि जिस शख्स को उन्होंने बचा लिया था, उसका चेहरा तक याद नहीं रहा और जिसे मरने को छोड़ दिया था, वह जैसे पीछा ही नहीं छोड़ता।

"वह तुम्हारे साथ जो दूसरा घायल आया था, वह भी इसी गाँव का था क्या?"

"कौन मंगल सिंह, हाँ और कहाँ का! वह रहा उसका घर। बेवा और बच्चा छोड़ गया बेचारा।"

"तुम्हारे घर में कौन-कौन हैं?"

"हम दो भाई हैं डॉक्टर साहब। साथ रहते हैं...उसके तीन बच्चे और मेरे दो हैं। रब की कृपा से सब भरापूरा है।"

डॉक्टर राजपाल के मन में हल्की-सी हूक उठकर बैठ गई। यह अगर न बचता तो कोई खास फर्क नहीं पड़ता था लेकिन मंगल सिंह...। गलती हो गई। कुछ पता करके चुनाव करते...पर इसकी

क्या गारंटी थी कि मंगल बच ही जाता और साथ-साथ वे इस आदमी की भी जान गवाँ देते तो...?

"जरा, मंगल के घर हो लूँ...यहाँ तक आया हूँ तो...।"

"डॉक्टर साहब! मैं ले चलता हूँ।"

"नहीं, मैं चला जाऊँगा...अच्छा जयहिंद।"

डॉक्टर हरवंश से छुटकारा चाहते थे...क्यों ऐसा लगता था कि उसे बचाया जैसे कोई गुनाह किया, जीवित हरवंश उन पर बोझ है!

कच्चा घर...पीछे छोटा-सा आँगन। दरवाजा खुला था। आँगन में हल्की धूल उड़ रही थी, जैसे वह आँगन नहीं छोटा-मोटा चौराहा था। आगेवाले कमरे में भी धूल थी, कितने दिनों से घर झाड़ा नहीं गया था। डॉक्टर ने कुंडी खड़काई। कोई जवाब नहीं आया तो भीतर झाँका। आँगन की तरफवाले दरवाजे से थोड़ा हटकर, दीवार से टिकी वह बैठी थी...एक छाया, हिलती-डुलती तो मंद हवा में किसी पत्ती की मानिंद ही। बच्चा घर पर नहीं था। डॉ. राजपाल अभिवादन करके बाहर की चौखट पर ही बैठ गए।

"मैं डॉक्टर राजपाल हूँ, इधर आया था तो...।"

मंगल की पत्नी की पथराई आँखें हल्के से उठीं और फिर डॉक्टर पर जमकर रह गईं। क्या वह जानती थी...क्या वह थी उस रोज अपने पति के साथ या कि बच्चे की वजह से गाँव में ही रह गई थी...डॉक्टर को कुछ याद न आया। जहाँ तक नहीं थी, वर्ना रोना-चिल्लाना ज्यादा होता पर कौन जाने हुआ भी हो क्योंकि मंगल के प्राणपखेरू जब उड़े होंगे, उस वक्त तो डॉक्टर भीतर ऑपरेशन में थे। जब वे बाहर आए थे तब भी रोना-पीटना हो तो रहा था।

नई उम्र, गोरा रंग और सुता हुआ शरीर...पर सब धूल-धूसरित ...जैसे वहाँ सिर्फ एक मूर्ति थी, सलवार कुर्ते में लिपटी मूर्ति। सूजी हुई आँखें बाहर निकली पड़ रही थीं...।

तो तुम हो...जिसमें जरा भी दया नहीं, जिसने इस घर के कमाऊ आदमी को बरामदे में पड़े-पड़े मर जाने दिया...कातिल!

"मुझे अफसोस है"...डॉ. राजपाल अपनी तरफ से सफाई दे रहे

थे-"गोली दिल में लगी थी और दिल का ऑपरेशन सबके बस की बात नहीं। ऑपरेशन किया जाता तो भी बचना मुश्किल था।"

मंगल की औरत वैसे ही देखती रही। कितना डॉ. चाहते थे कि वह अपना गुस्सा निकाले, उन पर बरस पड़े, चाहे तो आँगन से डंडा उठाकर लाए और बरसाए डॉक्टर पर...वे टस से मस नहीं होंगे। समाज ने जो कहर इस प्राणी पर ढाया है उसका उत्तरदायित्व खुद पर ले लेंगे। उन्हें मुक्ति चाहिए...मंगल की आँखें जो हर पल घूरती रहती हैं, प्रश्न जो हर क्षण वे डॉक्टर की तरफ फेंकती रहती हैं—"डॉक्टर साहेब, तो क्या मैं मर जाऊँ?"

मैं इसलिए आया था कि तुम चाहो तो शहर में कोई काम शुरू कर सकती हो। मुझसे जो मदद हो सकेगी...।"

उधर से अब भी कुछ नहीं। क्या मंगल की औरत गूँगी थी या कि आघात से जड़ होकर रह गई...पर अब तक तो कितने दिन हो गए। वह आँखें फाड़े देखे जा रही थी, नहीं आँखों से बोल रही थी—"कैसे हो तुम लोग! जब कोई तुम्हारे दरवाजे मदद माँगता पहुँचता है तब तुम हाथ खींच लेते हो और जो मदद नहीं चाहिए, उसे देने दौड़े-दौड़े घर जाते हो...क्या दे सकते हो तुम!"

डॉक्टर को अपना सारा वजूद बेहद छोटा लगा। उस वक्त अपनी तमाम प्राप्तियों के बाद वे बौने थे...वेदना की उस मूर्ति के सामने एकदम बौने। वे सामना नहीं कर पा रहे थे उसका, जिससे तब अलसाई-सी ज्वाला उठ रही थी...बुझती चिता की ज्वाला!

और न झेल सके तो उठ दिए, नमस्कार कर लौट पड़े—है कोई इलाज उनके पास, किसके पास है इलाज मंगल की औरत के लिए?

"तो मैं क्या करूँ"—डॉ. राजपाल के भीतर चीख फूट पड़ी-"एक जलियाँवाला बाग हुआ था तो भारत भर में क्रंदन मच गया था और यहाँ रोज जलियाँवाला बाग हो रहे हैं। मारनेवाला अंग्रेज नहीं, तुम्हीं...तुम अपनी जाति को मार रहे हो। डॉक्टर शरीर में उगे रोग का इलाज कर सकता है, जब आदमी आदमी, को इस तरह मारने लगे तो इसका इलाज डॉक्टर है क्या...ओ मनुष्यो।"

इजाजत नहीं!

छोटी-सी उस बस्ती में कैलाश बाबू की छवि लड़के और बुजुर्ग के बीच की है। पोस्टमास्टर के पद से रिटायर हुए उन्हें दस साल होने को आ रहे होंगे और इस तरह उनकी उम्र आसानी से 68 छूने को होगी...यह सब जानते हैं लेकिन उनके चेहरे पर एक जो लड़कापना अब भी है और जिस तरह वे दिन भर साइकिल से बस्ती आर-पार करते रहते हैं...गड्ढों भरी सड़कों के दचकों को झेलते, नालियाँ नाकते सुअरों से बचते-बचाते, कभी साइकिल पर सवार तो कभी उसे यों ही खचोरते हुए उससे कम-से-कम बुजुर्ग लोग उन्हें लड़का ही मानते हैं और उसी हिसाब से उन्हें काम थमाते रहते हैं—भैया कैलाश...तना गूलर नाका तक तो चले जाना...वो भैया स्वामीदीन ने बिजलीवाले को भेजने को कहा था, पहुँचा नहीं...जरा दो हाथ बढ़कर। हँसते हुए कैलाश बाबू उन आदेशों को लेते हैं। वे किसी-न-किसी के काम से कहीं-न-कहीं दौड़ते होते हैं और उस दरमियान कुछ और काम उनसे आकर चिपक जाते हैं। किसी के बिजली के बिल का भुगतान करना है, किसी के रुपए बैंक से निकालने हैं, किसी के बच्चे का दाखिला कराना है और नहीं तो किसी की महरी को ही बुलाना है। वे जब नौकरी पर थे तब भी यह सब करते थे। नौकरी से तो अवकाश प्राप्ति हो गई, पर इन कामों से नहीं। इसलिए वे रिटायर हुए ही नहीं, एक तरह से। स्वयं, कैलाश बाबू हर जगह खुद को छोटा लगाते हैं और अकसर ऐसा देखा गया है कि जिन्हें वे अम्मा कहकर संबोधित कर रहे हैं, वे उनसे उम्र

में बस दो साल ही बड़ी होंगी।

देखने में भी कैलाश बाबू नौजवान से थोड़ा ऊपर...या बहुत हुआ तो ढलती हुई युवावस्था के लगते हैं, चेहरे पर दाढ़ी मूँछ नहीं, इसलिए चिकनापन और भी ज्यादा उछला हुआ। उनकी साइकिल की तरह ही उनकी काया—इकहरी, चुस्त। पिछले तीस सालों से वे ऐसे ही हैं...थोड़ा सिर के बाल कम हुए हैं, दो-चार दाँत गिर गए हैं...लेकिन दिन भर बस्ती के एक छोर से दूसरे छोर को नापने का जो अंदाज पहले था वह अब भी है।

जैसे कैलाश बाबू वैसे ही उनकी दिनचर्या भी वर्षों से एक ही तरह की चली आ रही है। ब्रह्ममुहूर्त में खूँटवाली खड़ाउओं की खट-खट उनके जगे होने और दूसरों के सोते होने का अहसास आसपास तक पहुँचाती है। सूरज अगने के पहले स्नान कर जाँघिया-बनियान पहने वे बाहर के कमरे में आ जाते हैं। जमीन पर गिनकर पच्चीस दंड और पचास बैठकें लगाते हैं। उसके बाद तख्त पर आधा घंटा प्राणायाम, ध्यान और आसन। शवासन के बाद तबला उठाकर वे तख्त पर बैठ जाते हैं और भिंची हुई कभी-कभी भिंचेपन को फाड़कर ऊपर उठती हुई आवाज में भजन गाते हैं—"प्रभु मेरे अवगुन चित्त न धरो..." गाना या तबला बजाना उन्हें नहीं आता लेकिन ठीक-ठीक लय हो लेती है, पीछे थोड़ा अनमनी-सी चलती तबले की थपथपाहट भी। तबले की जोड़ी पुरानी और ढीली लेकिन काम चलाऊ है। दो-तीन भजन गाकर वे उठेंगे और ब्राह्मी आँवला तेल की हलकी चुपड़ बालों और चेहरे को देंगे, उँगलियों से तेल की एक दो बूँदें नथुनों में डालेंगे। यह जरूरी है, जैसे साइकिल को तेल देना जरूरी है। उसके बाद पैंट कमीज डाल उठाई साइकिल और निकल पड़े शहर नापने। किसी के यहाँ नाश्ता-पानी हो गया कर लिया, खाने को किसी ने पूछा खा लिया। कुछ-न-कुछ हो ही जाता है। सिर्फ रात का खाना घर पर। साफ कपड़े पहनने की आदत है लेकिन कपड़े खुद धोते हैं और तकिया से थोड़ा गीले कपड़ों को दबा-दबाकर इस्त्री भी कर लेते हैं। इस तरह पेंशन और मकान के

ऊपरी हिस्से के मामूली किराए से गाड़ी चल जाती है—गाड़ी जिस पर उनके अलावा फिलहाल पत्नी और दो लड़के भी सवार हैं।

यों तो कैलाश बाबू सबके हैं लेकिन पढ़ने में तेज छात्र उन्हें शुरू से ही विशेष प्रिय रहे हैं। जब वे तार बाबू थे तो बोर्ड का नतीजा निकला नहीं कि अखबार के बस्ती पहुँचने के पहले कम-से-कम फर्स्ट डिवीजनवालों का नतीजा मँगा लेते। उन मेधावी छात्रों को पहलेपहल खुशखबरी पहुँचाने का मजा ही कुछ और था। फर्स्ट क्लास विद्यार्थी। अगर गरीब हुआ तो उसका आगे पढ़ना जारी रहे...उसके लिए वे भागमभाग करते रहते—छात्रवृत्ति के लिए दौड़ रहे हैं, बस्ती के रईसों से मदद माँग रहे हैं, उन लड़कों के रहने के लिए कमरा ढूँढ़ रहे हैं...कुछ भी करने को तैयार रहते कैलाश बाबू। पढ़ाई के बाद उनकी नौकरी लगने में, नौकरी के बाद वे लड़के अपने माँ-बाप, परिवार का खयाल रखते हैं या नहीं...इस सबमें भी उनकी दिलचस्पी रहती। यह सब आज भी है। विडंबना ही कहिए कि जिसका योगदान कितने नवयुवकों के जीवन को सँवारने में रहा, उनके अपने लड़के ही कायदे के न निकल सके। चार बच्चों में बड़ा लड़का था जिस पर कैलाश बाबू ने खूब ध्यान जमाया। अच्छी से अच्छी तालीम, अपनी औकात के बाहर उसकी पढ़ाई पर खर्च। कैलाश बाबू सोचते थे कि पहला लड़का अच्छा निकल गया, तो वह अपने भाई-बहनों को भी सँभाल लेगा—जैसा कि अपने समय में उन्होंने किया था। बड़ा लड़का ठीक से जम गया तो समझो आधा काम हो गया। लड़का निकला भी अच्छा, डॉक्टर बना...लेकिन जो कैलाश नहीं सोच सके थे वह यह कि कभी उसकी बीवी आएगी और उससे भी बड़ी बात यह कि वह जो समय था जब वे नौकरी पर लगे थे वही नहीं ठहरा हुआ है अब तक। बहू ने सीधे-सीधे उन्हें ही सुनाकर कह दिया कि वह या उसका पति क्यों जिम्मेदारी उठाएँ कैलाश बाबू की संतानों की, वे जाने जिन्होंने पैदा किए। डॉक्टर साहब चुपचाप सुन रहे थे...याने कि विचार उनके भी वही थे। कैलाश बाबू का सिर घूम गया। एक पल को ऐसा लगा जैसे प्राण निकले जा रहे हैं, वे अचेत

होकर गिर पड़ेंगे। सँभाला खुद को किसी तरह। तभी उनके भीतर गालियाँ चकचकाने लगीं। वे जो गाली देना जानते ही न थे! "सालों को शरम नहीं आती बाप से इस तरह बोलते, अरे तुम्हारे भी बच्चे होंगे, ऐसा ही न बना रहेगा..."

डॉक्टर के बाद की संतान लड़की थी। उसकी शादी के लिए कैलाश अकेले दौड़ा किए। शादी में डॉक्टर की तरफ से एक पैसे की मदद नहीं। कैलाश बाबू ने भी जिद ठान ली थी—बिकते बिक जाएँगे, पर लड़के से मदद के लिए न कहेंगे। प्रोवीडेंट फंड का सारा पैसा लगा दिया, उधार लिया, मकान गिरवी रख दिया। डॉक्टर दूर से सब कुछ देखता-सुनता रहा, शादी में अपनी बीवी के साथ रिश्तेदार की तरह आया, गिनकर तीन दिन रहा और चलता बना...

"लानत साली ऐसी औलाद पर"—कैलाश बाबू गालियाँ देते-देते रोने लगते—वे गधे थे जो कह गए—"बाढ़हिं पुत्र पिता के धर्मा।"... वह तो कहता है मेहनत उसने की, पढ़ाई उसने की तो यहाँ पहुँचा, इसमें किसी का क्या। और उसकी बीवी 'मेरा पति' 'मेरा पति' गले से ऐसे निकालती रहती है जैसे सुंगरिया गों-गों निकालती है। पति न हुआ कोई जायदाद हो गई साली। अरे जायदाद भी बनी-बनाई मिल गई न...जिन्होंने कच्ची मिट्टी से उठाकर तैयार किया, उनका कुछ नहीं लगता?...

दो बच्चों से तो निपट गए कैलाश बाबू। रमेश और घनश्याम रह गए हैं। वे पढ़ने में ऐसे ही थे...फिर बस्ती का बिगड़ता वातावरण। बड़े लड़के के समय यहाँ का स्कूल फिर भी कुछ था, इन लड़कों तक आते-आते वह आवारों का अड्डा भर रह गया था। ऊपर से इन लड़कों को कुंठा खा गई—बड़े भाई के यहाँ ऐसी-ऐसी चीजें ...उन्हें नसीब क्यों नहीं? कैलाश तरह-तरह से समझाते—मेहनत करे आदमी तो क्या हासिल नहीं हो सकता। लड़के सुन लेते लेकिन उनके चेहरे पर उतराता खालीपन जैसे कहता होता—ये बातें सिर्फ कहने-सुनने की हैं, आज जो भी जिसे मिलता है इधर-उधर से ही मिलता है, बड़े भाई के यहाँ भी ज्यादा चीजें वे हैं जो उनकी कमाई

की नहीं हैं, ससुराल से मिली हुई हैं। मेहनत की ही बात थी तो पिताजी तो करते रहे मेहनत...क्यों सारी जिंदगी घड़े का पानी पीते रहे।

बस्ती की नजर में कैलाश बाबू भले ही पिछले तीस वर्षों से एक बुजुर्ग लड़के के रूप में ठहरे हुए हों, वे ही जानते हैं जिस तेजी से समय उनके नीचे से खिसकता चला जा रहा है। जल्दी ही वह समय भी आएगा जब वे न होंगे। तब क्या करेंगे रमेश और घनश्याम? ऊपर के हिस्से का किराया दो सौ से बढ़कर पाँच सौ हो जाएगा...पेट भर सकेंगे ये? किसी तरह वह हो भी गया तो जीवन तो शुरू नहीं न हुआ। काम नहीं तो विवाह नहीं। इस तरह न काम का साथ, न किसी व्यक्ति का साथ। कैलाश के जैसा स्वभाव नहीं कि अपने को दूसरों के लिए थोड़ा उपयोगी बनाएँ और बाहर जाकर बस्ती भर से खुद को जोड़ लें। माँ ने तरकारी-भाजी लाने को कहा ला दी, पिता ने किसी के यहाँ जाकर कुछ करने को कहा, चले गए। उतना कर दिया जितना कहा गया। बाकी पड़े हुए हैं भीतर के कमरे में...फटे कपड़े की तरह। क्या बनेंगे ये, क्या होगा इनका...

लोग समझाते कि बड़े लड़के से कहो। वह डॉक्टर है, उसकी अच्छी प्रैक्टिस है। एक भाई को कंपाउंडरी करा दे, दूसरे को अपने पास ही दवाओं की दुकान खुला दे। कैलाश बाबू फिर गरियाते हुए रोने लगते "भीख नहीं माँगूँगा। अरे साले जब तुम्हें ही कुछ महसूस नहीं होता। भूल गया कौन अपना पेट काटकर रुपए भेजता था जब मेडिकल पढ़ता था। बीवी और ससुराल का मुँह देख लिया तो वे सगे हो गए...ऐसी औलाद साली..." और उन्हें बहू के कटुवचन याद आ जाते।

कैसा भी अपमान आदमी झेल सकता है, लेकिन जब अपनी औलाद की तरफ से ही बेइज्जती आती है...कैलाश बाबू ही जानते हैं। यह तो लगता ही है कि वह लड़का पैदा ही न होता, यहाँ तक लगता है कि वे स्वयं ही पैदा न हुए होते कि ऐसी संतान को संसार में लाने का माध्यम बने।

एक दिन ऐसे ही चलते-चलते कैलाश बाबू को अपनी ही बस्ती के रवींद्र का खयाल आया। रवींद्र गरीब घर का था, पढ़ने में शुरू से ही तेज। जब यहाँ पढ़ता था तब कैलाश ने दूसरे मेधावी छात्रों की तरह उसमें भी दिलचस्पी ली थी, भागा दौड़ी करके यहाँ उसे छात्रवृत्ति दिलाई थी। जब वह इलाहाबाद विश्वविद्यालय पढ़ने गया तब कभी किताबों के लिए, कभी ट्यूशन वगैरह के लिए कैलाश वहाँ तक दौड़ पदौड़ करते रहे थे। रवींद्र पढ़ाई पूरी करके अफसर बन गया, आजकल दिल्ली में बड़े पद पर है। उसके माँ-बाप अब भी यहाँ रहते हैं। कैलाश उनके हालचाल लेने अक्सर जाते रहते हैं...क्यों न रवींद्र को रमेश के बारे में लिखा जाए। रमेश बी.कॉम. करके एक साल से घर पर बैठा हुआ है। छोटी-मोटी नौकरी लग जाए। अपने पैरों पर खड़ा हो जाएगा। उन्होंने रवींद्र को लिखा। जवाब अच्छा और फौरन आया। रवींद्र ने लिखा था कि कैलाश बाबू जैसे लोग बहुत कम हैं जो सारी जिंदगी दूसरों के लिए करते रहे। इस उम्र में जब रिटायर हो चुके हैं, शक्तियाँ क्षीण हो रही हैं, समाज कृतज्ञतास्वरूप उनके लिए भी कुछ करे। उनका अधिकार है कि वे रमेश को फौरन भेज दें। कोई-न-कोई काम लग जाएगा उसके रहने का भी कुछ इंतजाम कर दिया जाएगा।

और क्या चाहिए। वह अंतर्देशीय पत्र नहीं जैसे नियुक्ति पत्र था। रमेश की नहीं जैसे कैलाश बाबू की ही नौकरी लगी थी, वह भी पहली-पहली। जिस दिन रमेश को रवाना किया, कैलाश बाबू को लगा जैसे बहुत बड़ा काम हो गया। रमेश के दिल्ली पहुँचते ही रवींद्र ने दूसरी चिट्ठी भी भेजी—रमेश उनके बंगले के ही एक आउट हाउस में ठहर गया है। एक स्टोव और कुछ बर्तन रखवा दिए हैं। वह अपना खाना खुद पकाता है। सोमवार से काम पर जाएगा। और जैसे ही छोटे-मोटे किराए की कोई रहने की जगह मिल जाती है वह वहाँ चला जाएगा। ढूँढ़ जारी है। जब तक कोई जुगाड़ नहीं होता वह यहाँ है ही, कोई चिंता की बात नहीं।

सोमवार को कैलाश बाबू ने डाकघर जाकर फोन पर खबर ली

कि सचमुच रमेश नौकरी पर जाने लगा है। सीधे वे महेश्वरी देवी गए एक किलो पेड़ों का प्रसाद चढ़ाया और चहकते हुए लोगों में बाँटा। लड़की के ब्याह के बाद यह पहली खुशी थी जो उनके घर आई थी। नौकरी ही मुख्य चीज थी, बाकी तो हो ही जाएगा। कैलाश बाबू ने अपने बच्चों को ऐसी परवरिश दी ही थी कि जरूरत पड़ने पर पर वे अपना खाना पका लें, झाड़ू-बर्तन कर लें, अपने कपड़े धो लें। इस सबमें रमेश को कोई परेशानी नहीं होगी। अब चल पड़ी गाड़ी रमेश की। बचा घनश्याम तो उसके लिए भी ऐसा ही कोई बंदोबस्त हो जाएगा। या क्या पता अगर रमेश दिल्ली में ठीक-ठाक जम गया तो वही घनश्याम को खींच ले। दोनों भाई रहने-कमाने लगें, साथ-साथ।

कैलाश बाबू निश्चिंत हो गए थे। हमेशा आराम करने का मन होता। अपनी चुस्त दिनचर्या में अब उन्होंने ढील दे दी थी। अक्सर सूरज निकलने तक सोते रहते। कसरत करना छोड़ दिया, घूमना तो हो ही जाता है दिन में। सूरज अच्छे से निकल आए तभी नहाते और भजन गाते। ज्यादा से ज्यादा समय तख्त पर पड़े रहना चाहते...पैरों पर चादर डाले अखबार या किसी किताब पर आँखें गड़ाए हुए। उन्हें लगता जैसे वे बहुत थक गए हैं और उन्हें लंबे आराम की जरूरत है। सारा जीवन भागते भी तो रहे, शरीर के चूल घिसने को हो आए। अब क्या है...एक घनश्याम बचा है, वह भी इसी तरह कहीं लग जाएगा। कैलाश बाबू जिस तरह भागते रहते थे, उसे कुछ लोग पागलपन कहते थे—क्या मुँह उठाए, इधर से उधर घूमता रहता है। लेकिन वही चीज काम आई। अरे साहब कैसे नहीं होगा, अगर आप लोगों के लिए करेंगे तो आपका कैसे नहीं होगा...

कैलाश बाबू लोगों को बातों-बातों में बता डालते कि रमेश नौकरी पर जाने लगा है। बताने का ढंग बेशक यों ही, चलते-चलतेवाला होता लेकिन बताते समय हर बार ही वे पुलक महसूस करते, क्योंकि उसमें रमेश के साथ-साथ कैलाश बाबू के लिए भी फख्र की बात छिपी थी...उनका लोगों के कामों पर दौड़ते रहना रंग लाया था।

अब वे रमेश के विवाह के प्रस्तावों को स्वीकार करने लगे थे, कहीं-कहीं बातचीत में गहरे भी उतर जाते। कैलाश बाबू के जीवन में नया अध्याय शुरू होनेवाला था। लड़के बहू का सुख पहली बार उनके घर से जुड़ेगा। न सही डॉक्टर लड़के जैसा स्टेटस। रमेश और उसकी पत्नी साधारण आर्थिक स्थिति के कारण ही अच्छे निकलेंगे। जहाँ पैसा ज्यादा होता है, वहीं खराबी होती है।

करीब डेढ़ महीने बाद रमेश घर आया, थोड़ा मुर्झा गया था। देखकर कैलाश बाबू को उससे हमदर्दी हुई—घर की याद आती होगी। नई जगह है, धीरे-धीरे ही मन लगेगा। उन्होंने गर्मजोशी से रमेश का स्वागत किया—"आओ भैया! अच्छा हुआ आ गए। हम लोगों की भी इच्छा थी पर मन मारकर बैठे थे कि नई-नई नौकरी है। इतनी जल्दी कौन छुट्टी देगा। इस बार कुछ खाने-पीने का सामान भी साथ लेते जाना, तुम्हारी माँ आटे के लड्डू बना देगी, थोड़ा मठरी। वक्त जरूरत पेट में डाल लिया। उस बार तो जल्दी-जल्दी में तैयारी भी ठीक से न हो सकी। घी लेते जाना। बाहर कमरा नहीं मिला? कोशिश करके जल्दी ढूँढ़ लो। रवींद्र भैया ने इतना ही बहुत किया जो जमा दिया। रहने वगैरह के लिए उनका अहसान क्यों लिया जाए। छोटा-मोटा कहीं भी मिल जाए शुरुआत के लिए ठीक रहेगा। बाद में बदलते रहना..."

रमेश ने कुछ नहीं कहा। तौलिया उठाकर नहाने चला गया। तैयार होकर बाहर निकल गया, देर रात आया और जैसे बहुत थका हो, सीधा जाकर सो गया। माँ ने खाने को पूछा तो कह दिया दोस्त के घर खा लिया है। कैलाश बाबू बात करने को तरसते रह गए। वे बहुत कुछ जानना चाहते थे—रवींद्र ने किस तरह लिया, रमेश को किस तरह रखा, खाने-पीने का क्या है, खासकर यह कि रवींद्र की बीवी का बर्ताव कैसा रहा...लेकिन रमेश ने कुछ बताया ही नहीं। कैलाश सामने पड़े भी तो रमेश का चेहरा थोड़ा सख्त हो आया था...जैसे सामने पिता नहीं, दुश्मन था जिसने उसे घर से निकाल दिया, उसे अजनबी दुनिया में ठेल दिया जहाँ इस बस्ती का दोस्ताना

वातावरण तो था ही नहीं, खाने-पीने रहने तक का कोई इंतजाम नहीं था।

अगले दिन कैलाश बाबू ने रमेश को छेंक ही लिया—"कितने दिनों की छुट्टी मिली है?"

रमेश खड़ा रहा, गुमसुम और उदास। कैलाश की सवालिया आँखें उठी रहीं तो उसने ठंडे-ठंडे कहा—"वहाँ...ठीक नहीं है।"

"क्या ठीक नहीं है?"

"अंग्रेजी बोलते हैं सब, अंग्रेजी में काम होता है।"

"तो क्या हुआ। रहते-रहते तुम भी सीख जाओगे।"

"बस के लिए लंबी-लंबी लाइनें लगती हैं, घंटों इंतजार करना पड़ता है, ढेल-ढालकर अंदर जाने को मिल पाता है।"

"अरे तो बेटा वह कोई अपना यह कस्बा थोड़े ही है कि उठाई साइकिल और कहीं भी पहुँच गए। थोड़े दिनों में तुम्हीं गर्व से कहोगे कि बड़े शहर में रह रहे हो।"

"मन नहीं लगता।"

"कैसे लगेगा अभी। नई जगह है, नई नौकरी। छुट्टी मिले आते-जाते रहो। धीरे-धीरे मन लगने लगेगा। ऐसा लगेगा कि तुम यहाँ दो दिन भी न ठहरना चाहोगे। खाने-पीने का...?"

"जहाँ उनके नौकर रहते हैं, वहीं एक कोठरी में रख दिया था। स्टोव पर खिचड़ी पका ली, या डबल रोटी खा ली।"

"धीरे-धीरे जम जाएगा। जैसे ही तुम्हें किराए का कमरा मिला, जमने लगेगा। कब जाना है?"

"मैं अब वहाँ नहीं जाऊँगा। नौकरी छोड़ दी।"

कैलाश बाबू की आँखों के सामने चिनमिनाहट तैरने लगी... जैसे उजाला रेशा-रेशा बिखर गया और उनके सामने छोटी-छोटी उजली-काली चित्तियों में उड़ रहा था। ठीक ऐसा ही तब हुआ था जब बहू ने उनसे कहा था—वे जाने जिन्होंने पैदा किए...

"तभी चला आता"—रमेश कहे जा रहा था—लेकिन सोचा किसी तरह महीना पूरा कर लूँ। महीने की तनख्वाह लेकर ही जाऊँ।

आना-जाना और उतने दिन काम करना वेकार न जाए। अव यहीं रहकर कुछ करूँगा।"

कैलाश बाबू ने पूरी ताकत से जबड़े भींच लिए—क्या वहादुरी है कि एक महीने की तनख्वाह लेकर ही निकलेंगे। क्या तेवर है कि यहीं कुछ करेंगे। अरे, क्या करोगे तुम बाप की छाती पर मूँग दरने के सिवा। इतने दिनों क्या किया। कैसी निकली औलाद। दिल्ली का संघर्ष सामने था तो भाग आया। रवींद्र ने बाहर की कोठरी में रखा, तो क्या भीतर घर में रख लेता, जो कि तुम्हारा सगा भाई भी नहीं करता आज। रवींद्र का रईसी रहन-सहन देखा तो कुंठा मार गई। रवींद्र के आज जो ठाठ हैं, उसके पीछे कल जो उसका संघर्ष था वह भी तो देखता, उससे प्रेरणा लेता। नौकरी छोड़ने के पहले पूछता तो एक बार? यहाँ डरी पड़ी है नौकरी कि जब चाहा उठा ली। तुम्हें क्या—बाप दिलाए। पैदा किया है तो उसका फर्ज है तुम्हारे लिए करना और तुम्हारा अधिकार है उसके किए पर पानी फेर देना। कैसी है यह पीढ़ी—अपनी मर्जी से चलना गर्व की बात समझती है, साथ ही निकम्मी इतनी कि खुद कुछ कर नहीं सकती। कैलाश बाबू का समय था तो कोई भी काम करने को तैयार रहते थे। इस पैंट कमीजी पीढ़ी को शुरू से ही सब कुछ इज्जतदार चाहिए, साहब ही बनेंगे। कहते हैं यहीं कुछ कर लेंगे। क्या लस्सी बनाने बैठ सकते हो, मंगौड़े की दुकान खोल सकते हो तुम...

जब्त करके रह गए कैलाश बाबू। चुपचाप उठे और बाहर चले गए। लंबा घूमने। रमेश से कुछ कहेंगे तो कहीं कुछ कर न बैठे। कच्ची उम्र...ऊपर से निकम्मापन। सब धो-धाकर आ गया पट्ठा। रवींद्र से अब कुछ किस मुँह से कहेंगे। औलाद यह है तो रवींद्र क्या, किसी से भी क्या कहेंगे अब...

कैलाश बाबू पर पस्ती छा गई थी। जैसे वे एकाएक बूढ़े हो गए थे। एक दुःख वह है कि संतान हो, उससे बड़ा कि हो और मर जाए और सबसे बड़ा यह कि नालायक निकल जाए...एक डॉक्टर लड़के की तरह, तो दूसरी इस तरह। बेटों की नालायकी, असफलता बाप

के माथे पर आकर क्यों चिपक जाती हैं? लेकिन वे ही क्या बड़े सफल रहे, उनके जीवन का लुब्बे लुवाब क्या रहा? सारा जीवन साइकिल इधर से उधर किनकिनाते घूमते रहे, क्या किया, क्या वे स्वयं नाकारा नहीं थे? नहीं, कैलाश गरीब भले रहे नाकारा नहीं। कितने लोगों के काम आए...जितना थोड़ा-बहुत आ सके। उस भागदौड़ की सफलता यही थी। अपने घर की असफलता को उससे जोड़ना गलत होगा।

अगले दिन बड़े सुबह कैलाश बाबू नहाकर निकले, जाँघिया-बनियान पहने हुए। बरामदे के एक कोने में कितने दिनों से उपेक्षित पड़ी हुई दो ईंटों को उठाकर बाहर के कमरे में ले आए, जमीन पर लगाया। ईंटों पर उनके हाथों के निशान थे। उसी जगह हाथ जमाकर वे ईंटों पर अपने पंजों की पकड़ और पंजों पर अपना वजन तौलने लगे।

उन्होंने देखा कि बाँहों की मांसपेशियाँ अभी उतनी ढीली नहीं हुई हैं। दमखम है, अब भी। वे चलेंगे। डंड-बैठक फिर से शुरू करनी होगी। बूढ़ा होने की इजाजत जिंदगी उन्हें नहीं देती।

केयर टेकर

गेस्ट हाउस तलाशते-तलाशते रात के दस बज गए। शहर के बाहरी छोर पर खड़ी एक बड़ी कोठी ही गेस्ट हाउस थी। जब कोठी बनी होगी तब यह इलाका एकदम अलग...शायद जंगल रहा होगा। अब बस्ती उसे छू रही थी। सड़क पर धुँधली रोशनियाँ थीं जैसी कि होती हैं जब आबादीवाला हिस्सा पीछे छोड़ हम किसी बस्ती के छोर पर आ जाते हैं...उससे भी गुजरकर अँधेरे में जाने को होते हैं। वे रोशनियाँ भी हमारे कोठी के अहाते में उतरते ही सहसा दूर चली गईं। हम छोटे-बड़े दरख्तों के बीच, अँधेरे में चल रहे थे। कोठी भी करीब-करीब अँधेरे में डूबी हुई थी, सिर्फ बाएँ कोने पर एक छोटा-सा बल्ब अपने आसपास वीरान-सी रोशनी फेंक रहा था, जिसमें वह पुरानी कोठी और भी डरावनी लगती थी।

हमारे करीब आते ही कोठी से कुत्ते के भूँकने की आवाजें उठने लगीं, उठती रहीं...लेकिन न कहीं से कुत्ता ही हम तक आया, न कोई आदमी। जैसे कि कुत्ते की आवाज में वह कोठी ही बोल रही थी। शायद तब वहाँ कोई नहीं था, या कुत्ते को बंद करके शहर चला गया था।

एक किनारे सर्वेंट्स क्वार्टर्स जैसे दो बंद कमरों में रोशनी थी। हम उधर जा पहुँचे। कमरे भीतर से बंद थे। इधर के कमरे में हल्की खटापटक हो रही थी जैसे कि थोड़ी-थोड़ी देर में कोई किसी गिलास या लोटे को उठाता-धरता हो। मनुष्यों की आवाजें एकदम नहीं थीं। मैंने पुकारा...'चौकीदार'...तो वह खटपट भी बंद हो गई। मेरी दो-तीन

आवाजों पर भी भीतर सन्नाटा ही रहा...शायद उधर इंतजार था कि हम चिल्ला-चिल्लाकर लौट जाएँगे। मैं पुकारता चला गया तो आखिर उधर के कमरे का दरवाजा खुला और हाफ पैंट और आधी बाहों की कमीज में बारह-तेरह साल का एक लड़का बाहर निकला। मैंने कमरे की माँग की तो वह 'एक मिनट' कहकर अंदर चला गया, फिर पूछने आया कि मैं कहाँ से आया हूँ, क्या नाम है। जवाब लेकर वह फिर अंदर गया। जब वह अंदर जाता था तो किवाड़ पहले की तरह बंद कर देता था।

थोड़ी देर में वह बाहर आया, इस बार चाभी लिए हुए। पीछे से उसने अपने कमरे के किवाड़ों को अच्छी तरह बंद किया, बाहर से कुंडी या ताला अलबत्ता नहीं लगाए। हमारे आगे-आगे चलते हुए वह कोठी के उस किनारे आया जहाँ बल्ब जल रहा था। बल्ब के नीचे का दरवाजा था जो उसने खोला। शायद इस तरफ का हिस्सा ही गेस्ट हाउस था, बाकी कोठी हमेशा बंद पड़ी रहती थी। कुत्ते की आवाजें अब नहीं थीं, वह कोठी के दूसरे हिस्से में होगा या हमारे साथ लड़के का आना सूँघ चुका होगा।

ठहरने के कमरे ऊपर थे। लड़के ने मेरा कमरा खोला, ड्राइवर के साथ नीचे से सामान लाकर रखा। नीचे ही रसोईघर से पानी का जग और गिलास लाकर रखे। तब मैंने उसे देखा...और देखता रह गया—किशोर चेहरा...बेहद संजीदा, संजीदगी जैसे पर्त दर पर्त वहाँ जमकर रह गई थी। नई उम्र की चपलता, लोच किसी कोने से नहीं। हर तरफ से खिंचा हुआ चेहरा। मुझे घबराहट होने लगी...

"क्या नाम है तुम्हारा?"

'निर्मल' बुझी-बुझी-सी आवाज।

"स्कूल नहीं जाते?"

वह कुछ नहीं बोला, बेड कवर हटाकर बिस्तर को सोने के लिए लगाने लगा। उसके काम करने में एक मशीनी दक्षता थी, जैसी कि उनमें होती है जो कोई काम सालों से करते चले आ रहे हों।

"तुम यहाँ चौकीदार हो?" मैंने फिर पूछा 'नहीं...' वह फीकी-सी

हँसी हँसा। उस हँसी में कई तरह के भाव थे जैसे कह रहा हो—मेरी उम्र नहीं देखते या कि क्या मैं इससे बेहतर कुछ होने के लायक नहीं हूँ?

"तुमने बताया नहीं, चौकीदार तुम हो?"

"मैं नहीं...मेरे पिता।"

"वह कहाँ है?"

"मैं हूँ न...?"

"तुम तो हो, पर वह कहाँ है?"

"कुछ चाहिए? मैं कर दूँगा।"

"तुम तो कर ही दोगे, पर वह कहाँ है... बाहर गया है?"

"जी...जी हाँ।"

"तुम्हारे जिम्मे इतनी बड़ी कोठी छोड़कर?"

"मैं सँभाल लेता हूँ, पूरी सँभाल लेता हूँ...सब कुछ कर लेता हूँ।"

"वह तो ठीक है पर उसका काम तुम्हें क्यों करना चाहिए। उसे होना चाहिए यहाँ।"

'है...यहीं है। आप बताएँ साब...आप जो कहेंगे मैं कर दूँगा। मैं सब कर सकता हूँ, साब।"

वह अपने पिता...उसकी नौकरी को आड़ देने की जबर्दस्त कोशिश किए जा रहा था। दरअसल मेरे कुछ ज्यादा ही पूछ डालने से वह सकपका आया था। संजीदगी की जगह चेहरे पर अब भय था जैसे कि अगर पिता की इस समय बुलाहट हो गई तो लड़के पर कहर बरस जाएगा।

मैंने बात को वहीं छोड़ दिया...ठीक है—उसकी काम करने की उम्र नहीं थी पर कितने परिवार हैं जहाँ बच्चे काम करते हैं, ऐसे काम भी जो उन्हें नहीं करने चाहिए। चौकीदारी इसके जिम्मे छोड़कर अगर उसका पिता कुछ और कमाई कर लेता है तो बुरा क्या है। इन लोगों के परिवार बड़े होते हैं। कैसे गुजारा चले।

मुझे तब और कोई काम नहीं था...खाना बगैर पहले से बताए

वहाँ मिलता नहीं था, यह मैं जानता था इसलिए बाहर से ही खाना खाकर पहुँचा था। ड्राइवर के लिए इंतजाम और सबेरे चाय-नाश्ता का बताकर मैंने उसे रुख्सत किया।

सबेरे चाय देने निर्मल ही आया, ट्रे रखकर चला गया। मैं जब नाश्ता करने के लिए नीचे उतरा तब वह रसोईघर में था, रात के ही कपड़ों में, अपने में सिमटा, सिकुड़ा-सा। एक गोरा अधेड़ आदमी आगे आया और उसने सीढ़ियों की जड़ पर निहायत सभ्य तरीके से अपना परिचय दिया—'गुड मार्निंग सर। आई एम रामसिंह...केयर टेकर।' वह स्वस्थ और चुस्त था, अपने जमाने में खूबसूरत रहा होगा। उसने साफ और इस्त्री किए हुए पैंट कमीज पहन रखे थे, हाथ में घड़ी थी और पैरों में जूते-मोजे थे, अंग्रेजी का उसका उच्चारण अच्छा था। जितना ही निर्मल बासा मैला, उतना ही उसका पिता साफ सुथरा। जब वह मुझसे मिल रहा था, निर्मल पीछे से खुश-खुश देख रहा था।

रामसिंह स्वयं को चौकीदार नहीं, केयर-टेकर कहता था। उसका बर्ताव कुछ-कुछ ऐसा था जैसे वह कोई छोटा-मोटा मैनेजर हो और उसका लड़का और किचिन में काम करता रसोइया उसके मातहत। नाश्ता करके मैं बाहर आया तो वह कुत्ता जो रात को भूँक रहा था, परिचय करने के लिए मेरी तरफ लपका। मैं थोड़ा डरा तो पीछे से रामसिंह "मोती...बी ए गुड बॉय..." करते, कुत्ते पर प्यार भरी डाँट बरसाते हुए आ गया और मेरे सामने कुत्ते को उसी तरह खिलाने लगा जैसे कुत्ते पालनेवाले रईस लोग खिलाते हैं। कमी इतनी ही थी कि कुत्ते का नाम उसने 'ड्यूक' न रखकर 'मोती' रखा था, शायद इसलिए कि कुत्ता देशी था। वर्ना उससे बातचीत तो वह अंग्रेजी के टुकड़ों में ही करता था-"सिट...बिहेव...मोती स्टॉप इट, मोती माई डार्लिंग..."

"मोती नाउ गो एंड प्ले।" कुत्ते को थपथपाकर एक तरफ भेजते हुए उसने कहा..."सर! मोती इज माई बेस्ट फ्रेंड हियर...यह मेरा बहुत कहना मानता है, मेरी बात आँख देखकर ही समझ लेता है।"

जाड़े की धूप सेंकने के लिए मैं थोड़ी देर के लिए बाहर बैठ गया था। रामसिंह भी एक खड़ी पीठवाली कुर्सी लाकर सामने बैठ गया और मेरी जरा-सी कुरेद पर अपनी बातें विस्तार में बताता चला गया। उसकी कहानी का सार यों था।

वह यहाँ पच्चीस साल से है, कंपनी के डायरेक्टर गोयल साहब उसे यहाँ लाए थे। वह देखने में अच्छा था, अंग्रेजी भी जानता था...जब साहब यहाँ आते वह साहब का साथ देता, साहब के शराब के दौर में शरीक होता। निशिस्त में सपने तनते, गोयल साहब भी सपने दिखवाते—वह स्मार्ट है, कंपनी में एक बार स्टार्ट अच्छा मिल जाए, फिर तो वह छलाँग लगाते हुए कहाँ का कहाँ पहुँच जाएगा, अफसर हो जाएगा। रामसिंह को पूरी उम्मीद थी कि उसे स्टार्ट मिलेगा...मिल भी जाता लेकिन गोयल साहब हवाई जहाज के एक्सीडेंट में खत्म हो गए। बाद में जो आएँ वे रामसिंह को चौकीदार ही मानें। रामसिंह को धक्का लगता, हर बार और गहरा। गोयल साहब के साथ उसकी आदतें कुछ और ही हो गई थीं। यह उम्मीद करते हुए कि कोई गोयल साहब जैसा आएगा और उसे यहाँ से उठाकर कहीं और रख देगा...रामसिंह इसी क्वार्टर में रहा आया। बेहतर नौकरी नहीं लगी, बच्चे जरूर चार हो गए।

"बच्चे कहाँ हैं?" मैंने पूछा।

"बड़ा तो यही है...आपका बेटा। एक लड़की है, दो छोटे हैं।"

"स्कूल नहीं जाते?"

"इसने स्कूल जाना बंद कर दिया तो मैंने कहा चल मेरे साथ यही काम सीख। माँ के गुजरने के बाद लड़की घर का काम सँभालती है...वह स्कूल जाए तो घर कौन देखे। दो छोटे हैं...वे स्कूल जाते हैं। बाकी क्या होता है सर...बी.ए., एम.ए. करके। नौकरी तो फिर भी नहीं मिलनी है।"

"निर्मल ने क्यों छोड़ दी पढ़ाई?"

"पता नहीं, कहता था—लड़के चिढ़ाते हैं। नंबर ठीक नहीं आते थे। फिर मेरी छोटी तनख्वाह में पेट भरा जाए या कि पढ़ाई कराई

जाए। मोटा-मोटी तालीम दे दी...काफी है। मैं था तो इंटर पास...क्या मिला? साहब लोगों से उम्मीद थी। अब तो इधर ठहरने भी साहब लोग कम आते हैं। होटल में ठहरते हैं...वहाँ जैसी तड़क-भड़क यहाँ कहाँ।"

मैं ऊब आया। अजीब नजरिया था रामसिंह का—वह कुछ न करेगा, साहब लोग करें, नहीं करते तो वह क्या करे...क्यों करे, भले ही वह या उसका परिवार बरबाद हो जाए। मैं मन ही मन गोयल साहब को दोष देने लगा...जिन्होंने इस तरह की काहिलियत रामसिंह में भर दी...पर यह रामसिंह की भी जिम्मेदारी थी कि वह इस तरह काहिल बने या न बने।

"रात को खाना बनाने की हिदायतें और रुपए देकर मैं दिन भर के लिए बाहर निकल गया। रात को खाने पर बैठा तो रामसिंह था।

उसका चेहरा सुर्ख था। आँखें लाल। पी रखी थी। उसने मेज पर प्लेटें पोंछ-पोंछकर लगाईं, फिर बाहर चला गया और उधर ही रहा। परोस निर्मल और रसोइए ने की। खाना खत्म कर मैं उठ ही रहा था कि बिजली की कड़क की तरह एक चीख उठी और गायब हो गई। थोड़ी ही देर में दूसरी चीख आई...फिर तीसरी फिर चौथी। हर बार एक ही क्रम में चीख उठती, चिल्लाहट में फटती और दबा दी जाती। बाहर अँधेरे को भेदती वे चीखें दहशत पैदा करती थीं। मैंने खिड़की से देखा—रामसिंह निर्मल को पीट रहा था।

दानव की तरह जब वह मारने को बढ़ता, भय के मारे निर्मल की चीख निकल जाती, मार की पीड़ा से वह चीख चिल्लाहट में फटती। वह छिटककर भागता, अपने रोने-चिल्लाने को दाबने की जबर्दस्त कोशिश करता ताकि भीतर आवाजें न पहुँचें।

मैं खिड़की से हट आया...यह उनका पारिवारिक मामला था। मुझे इन लोगों के पचड़ों में नहीं पड़ना चाहिए। फिर रामसिंह पिए हुए था, वह मेरे साथ भी बदसलूकी कर सकता था।

चीखें बंद नहीं हुईं, जैसे कि जितना निर्मल दबाने की कोशिश

झटके में मैं उठ गया...

बाहर गैलरी के अँधेरे में इधर दीवार से टिका हुआ निर्मल हाथ जोड़े गिड़गिड़ा रहा था—"बापू तुम रोज मुझे मारते हो, साहब के सामने मत मारो, बाद में चाहे जितना मार लेना..." यहाँ भी जैसे वह अपने पिता की हिफाजत कर रहा था...जैसे कि बाप के पिए हुए दिखने से निर्मल की इज्जत गिरती थी या कि उसे भी उम्मीद थी कि अगर साहब लोग रामसिंह से प्रभावित होकर गए तो उसकी, पूरे परिवार की तकदीर बदल सकती है।

रामसिंह की पीठ मेरी तरफ थी, वह जल्लाद-सा निर्मल के सामने खड़ा था। कैसा था यह शख्स...जो सबेरे अपनी सुसभ्यता, नफासत दिखाने की कोशिश करता है और शाम को अपनी लंपटता दिखाने को विवश है...जो एक कुत्ते को तो प्यार करता है, लेकिन अपने लड़के के प्रति इतना क्रूर है...उससे नौकरों की तरह काम लेता है ऊपर से अपनी असफलताओं का गुस्सा उस पर उतारता है...

एक गंदी गाली देकर रामसिंह फिर मारने को हुआ कि मैं पीछे से चिल्लाया—"रामसिंह...क्या करते हो?" और उसके पास तक बढ़ आया..."इसे मारते हो, उसके भीतर ईश्वर है..."

रामसिंह ठिठक गया। उसका चेहरा भयानक हो रहा था, आँखें खूनी। वे तत्काल झुक आईं...पता नहीं कितना शराब के बोझ से, कितना अपने कुकर्म की ग्लानि से। अगले ही क्षण वह गैलरी की सीढ़ियाँ उतरकर अपने क्वार्टर की तरफ बढ़ गया।

मैं अपने कहे से उलझा पीछे छूट गया। मैंने उसे—जिंदगी का बोझ ढोते, संघर्ष करते मनुष्य के बच्चे को ईश्वर बना दिया...क्या यह निदान है? निदान है लड़के को किसी और वातावरण में डालना, जहाँ वह पढ़ सके, बढ़ सके। निदान है रामसिंह को कोई परिवर्तन देना जहाँ वह अपनी, अपने परिवार की जिंदगी नए ढंग से शुरू कर सके...मैंने किस आसानी से छुट्टी पा ली।

"वह तुम्हें रोज मारता है?" मैंने निर्मल से पूछा।

"नहीं साब..." वह सिसकता हुआ बोला और आँसू पोंछता हुआ किचिन में चला गया...मुझसे दूर।

निर्मल फिर अपने पिता के बचाव में लग गया था। संसार में ये नाकारा लोग...रामसिंह, जैसे कि मैं भी...थोड़ी-सी अंग्रेजी आ गई या कि कोई अच्छी नौकरी लग गई...ये किस आसानी से बड़े बन बैठते हैं, छोटों से काम कराते हैं, उन पर जुल्म करते हैं और वे यातनाएँ सहकर भी भले बने रहते हैं।

रसोइया जो अब तक मूक दर्शक था—मेरी तरफ बढ़ आया और थोड़ा चापलूसी, थोड़ा चुगली और थोड़ा शिकायत के अंदाज में बोला—"साब! रोज का यही हाल है, शाम हुई और शहर की तरफ निकल गया। दारू पीकर लौटता है। मार खाने के लिए पहले औरत थी, पिट-पिटकर मर गई। अब लड़का है। खून सवार हो जाता है।..." मुझे उसकी बातों में कोई दिलचस्पी नहीं जागी, एक ही थैले के चट्टे-बट्टे। मुँह में खराब स्वाद लिए मैं सोने चला आया। रात वाहियात सपने आते रहे।

सुबह नाश्ते के बाद मुझे जाना था। निर्मल सुबह की चाय चुपचाप रखकर चला गया। मैं नीचे आया तो रामसिंह ने पिछले दिन की ही तरह 'गुड मार्निंग' किया। वह हमेशा की तरह चुस्तदुरुस्त था, जैसे पिछली रात कुछ हुआ ही न था। हो सकता है शराब के नशे में उसे पता न चलता हो कि वह क्या कर रहा है और सबेरे सचमुच सब कुछ भूल जाता हो। उसने न केवल प्लेटें लगाईं, नाश्ते की परोस भी की। मैंने उससे कहा कि उसे अपने लड़के को नहीं मारना चाहिए...तो वह ठिठक कर खड़ा हो गया, मूर्तिवत, गहन पश्चात्ताप में। खड़ा रहा...कुछ सोचता।

आँखें हल्की नम हो आई थीं...शायद हर सुबह वह संकल्प करता था कि शराब नहीं पिएगा, लड़के को नहीं मारेगा...लेकिन शाम होते-होते सब कुछ उड़ा-उड़ा-सा हो आता, शरीर में चींटियों जैसी रेंग चालू हो जाती और वह शराब की तरफ दौड़ पड़ता।

दिनों-महीनों चलता यह क्रम...इसे बदलने की कूवत कहाँ से लाए।

"आई एम सॉरी सर...आई एम रीयली वेरी सॉरी।"

वह कई तरह से माफी माँग रहा था। मैं कैसे कहता कि उसे मुझसे नहीं, निर्मल से माफी माँगनी चाहिए...जो वह कर नहीं सकता था।

कार में रखने के लिए ऊपर से सामान रामसिंह ही लाया। निर्मल दूर-दूर ही रहा। मैं जब चलने को हुआ तब वह रसोईघर में था, बाहर नहीं आया। मैं ही उसके पास गया।

जिसमें एक रोज पहले मुझे खुश करने की आतुरता थी, उसी में अब उदासीनता थी मेरे लिए। जो चेहरा कितनी तरह के भावों के उठने-गिरने की भूमि रहा था, अब स्लेट-सा सपाट था। कुछ नहीं था वहाँ। मैं रुपए देने लगा तो वह सूखे-सूखे बोला—"उसे दे दो, केयर टेकर..."

निर्मल के स्वर में व्यंग था...केयर टेकर मैं या कि रामसिंह, रामसिंह केयर टेकर कोठी का या कि निर्मल का, या कि केयर टेकर वह...परवरदिगार?

निर्मल अजीब नजरों से मेरी तरफ देख रहा था जैसे कह रहा हो बीस रुपल्ली थमाकर तुम जाओ...बख्शीश देने के अलावा तुम कुछ नहीं कर सकते।

कोना

एक बित्ता लंबे चार अंगुल चौड़े कागज के एक टुकड़े पर सिर्फ साढ़े तीन लकीरें, थोड़ा घसीट लिखाई में...

इतने में सिमट आती है एक जिंदगी, एक पूरी की पूरी जिंदगी...?

रतन और मैं हाईस्कूल में साथ थे। उस छोटी-सी बस्ती में मेरे माँ-बाप अब भी रहते हैं। हमारे घरवाली सड़क पर ही उसका घर था जिसमें उसके पिता और दूसरे भाई भी रहते थे। माँ नहीं थीं। अपने घर की बाहरवाली एक छोटी-सी आयताकार कोठरी उसे मिली हुई थी। कोठरी की लंबाई-चौड़ाई इतनी ही कि एक उसके कद का आदमी सो सके। साधारण चारपाई भी ज्यादा चौड़ी होगी। दीवार में एक छोटी-सी अलमारी, किताबों के लिए। कोठरी की जमीन के साथ करीब-करीब चिपका होता एक पतला गद्दा, उसके ऊपर बिछी रहती कोई रंगीन चादर जो महीनों बाद ही कहीं बदली दिखती। यह उससे मुस्तकिल बैड था। जाड़ों में ऊपर एक रजाई आ जाती...बस।

बाहर के चबूतरे की तरफ एक छोटी-सी खिड़की थी जिसे खटखटाया जा सकता था, इस रास्ते हमारी छोटी-मोटी बातचीत बाहर-बाहर से ही हो जाती। लंबा बैठना हुआ तभी मैं कोठरी में आता था क्योंकि उसके लिए रास्ता भीतर की बैठक से था। उस छोटी-सी कोठरी में वह फिट और सुरक्षित था। कभी मैं बहुत सबेरे खिड़की खटखटाकर उसे जगाता—"रतन घूमने चलोगे?" वह चादर से मुँह बाहर निकाल निंदास में ही बोलता—"घूम तो रहा हूँ यार।

तुम्हें पड़ा दिखता हूँ? अरे मन घूम लिया तो पीछे-पीछे शरीर भी घूम ही आया, सुनी नहीं वह गणेश जी की संसार का चक्कर लगा आनेवाली कहानी? और वह फिर चादर तान लेता।

उसके बाल घने थे, ऊपर से वह बड़े रखना चाहता, महीनों न कटाता। उसके पिता को अकबकाई छूटने लगती। वे एक दो बार तो यों ही कहते—रतन, बेटा लो पैसा, बाल कटा आओ। रतन कन्नी काटकर निकल जाता। फिर पिता लालच देते—रतन तुम्हें पाँच रुपए (उस जमाने के पाँच रुपए!) मिलेंगे अगर बाल कटा आओ...तो रतन हिंदी की किताब में हाल में ही पढ़ा दोहा सुना देता—"केसन कहा बिगारिया जो मूड़ो सौ बार, मन को क्यों न मूड़िये जामे विषय विकार।" पिता बेचारे माथा पीटकर रह जाते। उन्हें रतन की बहुत चिंता रहती थी—सबसे छोटा लड़का, बिना माँ का। सभी भाई अपनी-अपनी बीवियों और धंधों से लग गए थे, काफी अंतराल के बाद जन्मा रतन अब भी स्कूल में था। पिता की उम्र हो आई थी। वे जब तक थे तब तक तो चला....लेकिन उसके बाद? बड़े लड़कों में से किसी से उम्मीद नहीं बनती थी कि वे रतन को आगे की पढ़ाई कराएँगे। जहाँ बड़े भाई तीन-तीन हों वहाँ और भी उनकी बीवियों के लिए कहने की गुंजाइश थी—"हम क्यों करें, दूसरे भाई क्यों नहीं..."

पिता की चिंताओं से वहुत दूर रतन अपनी जिंदगी में अपनी तरह से व्यस्त था—एकदम जरूरी दैनिक क्रियाएँ कर लेना.... [illegible] कि जाड़े में अगर शरीर नहाने की माँग नहीं करता तो नहाए बिना हफ्तों चल सकता था। खूब सोना, क्योंकि उससे समय काटने की समस्या कट जाती है। स्कूल कभी-कभी जाना, जितना जरूरी हो उतना पढ़ लेना। उसकी दिनचर्या में एक ही बदलाव लाने में मैं कामयाब हो पाया था—वह भी सिर्फ साल के दो महीनों के लिए। मैं जाड़े के दिनों में अलार्म लगाकर चार बजे उठता और नींद भगाने के लिए स्टेशन चाय पीने जाता था। मेरे साथ की खातिर, चाय की कशिश, या मेरी नकल में थोड़ा पढ़ाई करने की कोशिश...पता नहीं किस वजह से वह मेरे साथ आने लगा था। स्टेशन-चाय के

बाद लौटकर वह पढ़ने की तैयारी जैसा दिखाता लेकिन थोड़ी देर बाद अगर कभी मैं खिड़की खटखटाने पहुँचा तो पट्ठा इत्मीनान से सोता मिलता था। हम दोनों अपनी रजाई लपेटे स्टेशन जाते थे। जाड़ा ज्यादा होता तो चलते हुए एक दूसरे की रजाई में एक दूसरे को लपेटने की कोशिश करते। एक बार तो ऐसा करते हुए नाली में जा गिरे थे। इत्तफाक कि नाली सूखी थी और रजाइयों की वजह से कंकर पत्थर की चोटों से बच गए। वह हँसता चला गया!, पीछे-पीछे मैं भी। वह बिना बात हँसता था और फिर इस पर कि बेवजह हँस रहा है और हँसता चला जाता। आस-पास जो होते वे भी उसकी हँसी में घिसट आते।

रतन मेरी माँ को जिज्जी-जी कहता था। हमारे घर आता और बैठने के लिए और एक मिनट बाद ही जाने के लिए उठने लगता—"अच्छा जिज्जी-जी अब चलते हैं।" फिर कोई-न-कोई बात उसे बिठा लेती जिसके पूरा होते ही वह फिर शुरू कर देता—"अच्छा तो जिज्जी-जी अब चलते हैं" पर फिर किसी-न-किसी बहाने रुक जाता। इस तरह जाने के लिए कितनी बार कहता था पर जमा रहता था, कभी-कभी घंटों। रतन की इस आवाज पर मेरे पिता मजाक भी करने लगे थे—जैसे ही रतन आया और बैठा, इसके पहले कि वह कह पाए—"अच्छा चलते हैं", पिता जी अपनी तरफ से जड़ देते—"रतन! तो चलोगे कब?" रतन हँस पड़ता और हँसता चला जाता।

एक साधारण सपाट जिंदगी जिसमें कुछ होना ही इनकार करता हो जैसे...लेकिन कुछ था कि वह जिंदगी में अपनी तरफ से हवा भरता था। कभी पायजामा-कमीज पहन, अच्छे से बाल काढ़ निकलता, व्यस्त-व्यस्त कदमों से चलता हुआ मेरे पास आता और बड़ी व्यग्रता से मुझे घर के बाहर निकालने लगता—"फटाफट तैयार हो जाओ, चलो...।" मैं पूछूँ कि बड़े भाई कहाँ को...तो झुँझला पड़ता—"यार! तुम तो...अच्छा वह बाद में पूछना, पहले निकलो। वह ऐसे करता जैसे हमें किसी खास प्रोग्राम में और वह भी निश्चित समय पर पहुँचना हो। मैं तैयार होकर बाहर आ जाऊँ तो पता चले कहीं नहीं

जाना था। तब अगर मेरी चल जाती तो हम उस सड़क पर लंबा चले जाते जो बस्ती के बाहर निकलती थी। उसकी चल जाती तो हम किसी मिठाई की दुकान के पीछे लगी मेज-कुर्सी पर चाय के लिए बैठे होते। अगर कोई नया सिनेमा लगा हो और टिकट मिल गया तो सिनेमाघर में घुस जाते। सिनेमावाला दिन महत्त्वपूर्ण होता था, अगर कोई ऐसी फिल्म हुई जिसमें उसकी चहेतरी तारिका निम्मी हुई तो फिर तो क्या क़हने। वह बड़ी घटनावाला दिन होता था। जितने दिन वह फिल्म चलती रतन जमीन से दो इंच ऊपर चलता होता, निम्मी की एक-एक अदा से तर-तर। निम्मी की आँखें, जिस अंदाज से वह देखती, पर्दे पर उसके बोल का कोई टुकड़ा...हाय-हाय! याद-याद कर रतन मिसरी की तरह घुल-घुल जाता।

मैं पढ़ने में तेज था और वह औसत....लेकिन इससे हमारी दोस्ती में कोई फर्क नहीं पड़ता था। जैसे वह जानता था कि मैं कुछ बड़े के लिए पैदा हुआ हूँ और वह मामूली ही रहेगा...मानकर वह खुश था, कहीं कुंठा—वैमनस्य की एक बूँद भी नहीं। हाईस्कूल करने के बाद हम अलग-अलग हो गए। मैं इलाहाबाद चला गया। वह वहाँ जहाँ उसके एक भाई रहते थे। मैं अच्छा पढ़ने और उसके बाद अच्छी नौकरी के चक्करों में पड़ गया, वह एक साधारण कॉलेज से बी. ए. करके स्कूल में अध्यापक हो गया। हम दोनों की शादी हो गई, बच्चे हुए—मेरे दो, उसके तीन। फिर बच्चे एक के बाद एक कक्षाएँ चढ़ते चले गए। इस बीच हम दो-तीन बार ही मिले थोड़ी—थोड़ी देर के लिए। हमेशा की तरह खुशमिजाज वह हाहा हूहू ही करता रहा। उसने बच्चों और परिवार के बारे में भी बातें कम कीं...गोया कि ये नींद या खाना खाने जैसी मामूली क्रियाएँ थीं, काबिले बातचीत नहीं, क्योंकि इन्हें तो होना ही था। वे सबेरे घूमने जाने, सड़क पर पैर चटकाने जैसी फालतू चीजें थीं, पड़े-पड़े मन को घुमानेवाली कोई असल चीज जैसी नहीं। वह जानना चाहता रहा मेरे बचपन के दोस्तों, यूनिवर्सिटी के दोस्तों के बारे में...मेरी प्रेमिका के बारे में। अपने बारे में वह कम ही बोलता बताता था।

पिछली बार भी जब वह मिला तो वही...कमीज-पायजामा, करीने से काढ़े गए बाल, वैसे ही, हालाँकि अब आधा सफेद थे। दाढ़ी-मूँछ बहुत कभी नहीं थे तो चेहरे पर अब भी लड़कापना था। वह हमेशा की तरह खासी बेताबी से मुझे घर के बाहर ले आया और उसके बाद वही पुरानी बेमकसदी। वह वक्त जब हम सिनेमा देखते या भिनभिनाती वाली मेज पर चाय पीते जा चुका था...यह वह समझता था, लेकिन उस छोटी सी बस्ती में और क्या किया जाए यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। "रिक्शा ले लें ? उसने पूछा।"

" कहाँ के लिए?"

वह चुप। मैंने उसकी समस्या आसान कर दी—"चलो कचहरी के महावीरन चलते हैं।"

कोई जगह न हो जाने को तो स्टेशन के फालतू चक्कर लगाओ या किसी मन्दिर में जाकर बैठ जाओ। यह हमारी उस छोटी बस्ती की कब से चली आ रही संस्कृति थी। "रिक्शा ले लें ? उसने फिर पूछा।

मैंने मना कर दिया। क्यों वह उन दिनों की तरह अब भी दुनिया को, अपने आपको यह दिखाना चाहता है कि हम भी कहीं जा रहे हैं, अरे क्यों नहीं इधर-उधर डोल सकते?

"सिगरेट लोगे?" सड़क के वीरान से हिस्से में पहुँचकर उसने पैकेट निकाला और दबे-दबे पूछा। मुझे थोड़ा अजीब लगा...बुजुर्ग होने के बाद अब भी उसे चिंता थी कि कहीं बस्ती के बड़े-बूढ़े सिगरेट पीते देख न लें। उस बस्ती को वह भले ही कब का छोड़ चुका हो, पर जैसे वहाँ कहीं अब भी छूटा हुआ था।

"नहीं, मैं अब नहीं पीता।"

"अच्छा छोड़ दी...बिलकुल?

उसे हलकी निराशा हुई, पर उसने बात को फौरन एक तरफ सरका दिया और अपने लिए सिगरेट सुलगा ली। महावीरन पहुँचने तक सिगरेट चलती रही और हम सूचनाएँ लेते-देते रहे—बच्चे कहाँ तक पहुँचे थे, हम कितने दिनों वहाँ ठहरनेवाले थे। यह पूछने की जरूरत नहीं थी कि हम दोनों कैसे साथ-साथ उस बस्ती में आ पहुँचे।

उसका अचानक खत आया था (वह अमूमन नहीं लिखता था) कि मुद्दत हुई मिले और जब भी मैं माँ-बाप से मिलने जाऊँ, उसे भी लिख दूँ, वह पहुँच जाएगा...और वह आ गया था। जो बातें मेरे लिए खास थीं, उनमें उसको दिलचस्पी सतही थी और टालने के लिए वह मेरी तरफ प्रतिप्रश्न उछाल देता, जैसे कि मैंने पूछा कि उसने बँटवारे में मिला अपना हिस्सा बनवाया या नहीं तो उसने फट से कहा—"अभी नहीं...और तुमने? तुमने कहीं बनवाया?" ऐसा लगता था जैसे उसके लिए मैं, मुझसे यह मुलाकात बहुत कीमती थे जिन्हें वह फिजूल की बातों में जाया नहीं करना चाहता था।

मंदिर के बाहर चबूतरे की बेंचें खाली थीं। कुछ समय पहले छुटपुट बारिशें हुई थीं इसलिए हवा में हलकी ठंड थी। उन दिनों भी हम यहाँ बैठते थे, पर कम...तभी जब कोई और जगह जाने को न होती थी। कोई खास बात हुई तो उसकी कोठरी में बैठते थे। कोठरी तो अब भी थी लेकिन मकान के बँटवारे में बैठक के साथ वह बड़े भाई के हिस्से में चली गई थी। रतन ने बताया कि अब जब भी वह आता है तब उसके हिस्से में जो एक थोड़ा-सा साबुत कमरा था, वहाँ ठहरता है...कमरा माने दीवारों का घेरा। अगर हम कर सकते तो उसके साथ कोठरी की हिस्सेदारी अब भी बेहतर होती।

हम एक बेंच पर बैठ गए। मंदिर बस्ती के बाहरी छोर पर था इसलिए यहाँ एकांत रहता था। सामनेवाली सड़क बस्ती को एक किनारे छोड़ती हुई सीधे नदी की तरफ और फिर बाहर निकलती थी। कुछ देर पहले पड़ी बौछार ने सड़क को धो डाला था, इसलिए वह चमक रही थी।

"अभी कितना और उस तरफ रहोगे? इधर की तरफ तबादला नहीं कराओगे?" उसने पूछा।

"अब कितने दिनों के लिए यार...तीन साल में रिटायरमेंट है।"

"अरे?"

"क्यों तुम्हारा भी तो रिटायरमेंट पास होगा।"

"हाँ...पर तुम..."

"क्यों, क्या मैं हमेशा चलता रहूँगा?"

वह हलका उदास हो आया...जैसे कि उसे भरोसा था कि उसकी जिंदगी भले ही खात्मे पर आ जाए, मेरी रहनेवाली थी। मैं उसके बचपन का साथी था और अगर उसकी आकाँक्षाएँ बाहर आकर कोई रूप ले सकतीं तो वह मैं ही था। मैं चल रहा था तो उसका हौसला बुलंद था। मैनें कहीं से उस हौसले को हलका धक्का दे डाला था। उसने एक सिगरेट और निकाली और दोनों हथेलियों में छिपाकर जला ली। एक गहरा कश लेकर बोला..."कितनी जल्दी समय गुजर गया। अभी कल ही तो हम यहाँ थे...एक घर में खाते-पीते, दूसरे में खेलते-कूदते—मेरा घर, जिज्जी जी का घर, मास्टर साहब का घर, सामने के दर्जी बाबा का घर, तारबाबू का घर..."

वह एकाएक ठिठक गया। पीछे-पीछे मैं भी उसे एकाएक गंभीरता से देखने लगा। यह वह मुकाम था जिससे हम दोनों बचना चाहते, पर उसके मुँह से निकल गया। तारबाबू का घर उसके ठीक बगल का घर था। जिन दिनों हम पढ़ते थे तब तारबाबू के यहाँ गाँव से उनकी भांजी आई थी...उमा। उमा का गाँव में कोई नहीं रहा था। एक गोलमटोल लड़की, देखने में उतनी ही साधारण जितनी साधारण उसकी परिस्थितियाँ। तारबाबू दूर के मामा लगते थे, फिर भी उन्होंने जिम्मेदारी महसूस की थी और उमा को अपने यहाँ ले आए थे। जिस दिन उमा से रतन की कुछ बातें हो जातीं, या वह उसकी तरफ देख भी लेती, रतन चहक में उछला-उछला फिरता, चहक के बीच-बीच वह विस्तार से बताता भी था जो उसके और उमा के बीच हुआ। यहाँ होना...एक दूसरे को छूने के स्तर तक नहीं पहुँच पाया था। फिर एक दिन ऐसा हुआ जैसा कि उन दिनों होता था—कि तारबाबू उमा के साथ गाँव गए और उसकी शादी करके लौटे। उस दिन अपनी कोठरी में बंद रतन कलथात रहा। चुहलबाजी उसकी नस-नस में भरी थी, उसे समझ में नहीं आ रही थी वह तकलीफ जिसे वह महसूस कर रहा था, या कि यह कि उस तकलीफ को कैसे व्यक्त किया जाए...इसलिए कोठरी में अपने पतले गद्दे पर

उचक-उचककर वह गिर-गिर पड़ता था। मैं मौजूद था। उसकी वे हरकतें हँसी पैदा करती थीं...पर तभी मैंने देखा कि उसकी आँखों में दो आँसू—एक इसमें, एक उसमें—अटककर रह गए हैं। उसने सिगरेट भी उसी समय के आसपास पीना शुरू की थी, जो आज तक चालू थी।

"वह समय"—वह कह रहा था—"जब दूसरों के लिए कितनी चीजें यों ही कर दी जाती थीं, कोई बहुत कोशिश करता नहीं दिखता था और आज का समय जब कोशिश तो दूर, हम किसी के लिए कुछ करने की सोचते भी नहीं।"

"तब लोगों की माली हालत अच्छी थी। आज लोग पैसे से तंग हैं तो दिलों से भी तंग हो गए हैं।"

"मैं पैसे से तंग नहीं हूँ..."

कहकर वह रुक गया। अपने बारे में बढ़ा-चढ़ाकर बोलनेवाला वह कभी नहीं था। यह भी सही था कि उसने कभी अपने को हीन महसूस नहीं किया कि वह स्कूल के अध्यापक से कहीं अच्छी चीज क्यों नहीं बन पाया, या कि पैसे के लिहाज से आगे क्यों नहीं बढ़ पाया। इस तरह की महत्त्वाकांक्षाएँ उसमें कभी थीं ही नहीं।

"अब देखो"—उसने आगे कहा—"उमा का लड़का एम. ए. करना चाहता है। जहाँ वे रहते हैं वहाँ सुविधा नहीं है। बड़ी जगह पढ़ाने का खर्च वे उठा नहीं सकते। वह क्यों नहीं मेरे यहाँ रहकर पढ़ सकता जब कि मैं उस शहर में हूँ जहाँ यूनिवर्सिटी है। अपने समय में क्या नहीं होता था ऐसा...त्रिवेदी जी के यहाँ इलाहाबाद में क्या कोई-न-कोई पड़ा नहीं रहता था? तुम बताओ। पर मेरी पत्नी, यहाँ तक कि मेरे लड़कों को एतराज है। यह तब जब कि मैं कमा रहा हूँ। आर्थिक बोझ अगर पड़ता है तो मुझ पर...लेकिन मैं जानता हूँ कि यह कोई समस्या ही नहीं है, जहाँ चार का खाना वहाँ पाँच का, इसके अलावा क्या खर्च है...पर नहीं..."

मुझे मालूम था कि उमा और उसके पति से उनके बड़े ही अच्छे संबंध थे। साल में एकाध बार वह हो भी आता था...लेकिन फिर

भी उमा का घर और उसका घर अलग-अलग द्वीप थे। कोई पुल नहीं था उनके बीच, एक अंतर्धारा जरूर दो भूखंडों को नीचे-नीचे से आप्लावित करती रहती होगी।

"तुम्हारी पत्नी उमा को जानती हैं?"

"हाँ, वह जानती है कि उमा के मामा का घर हमारे बगल में था। मिली भी है उमा और उसके पति से। एक बार वे दोनों कहीं जाते हुए कुछ समय के लिए हमारे यहाँ रुके थे।"

'तो बस...और रहे तुम्हारे बच्चे, तो वे सोचते हैं कि उनके हिस्से का है जो जाएगा उमा के बेटे के लिए..."

"क्या जाएगा...और उमा का बेटा भी कोई है मेरा कि कोई नहीं है।..."

वह जो हमेशा मीठा बोलता था, हँसता ही रहता था एकाएक उबल पड़ा। उसकी आँखें दर्द से सुर्ख हो आई थीं, जैसे जो दो आँसू चालीस साल पहले वहाँ अटककर रह गए थे वे आँखों में ही फट गए थे और उनसे चुआ रक्त आँखों में फैल आया था। क्या एक संबंध जो कभी इतना महत्त्वपूर्ण था कि जीवन ही था...वह दूसरे समय में इतना व्यर्थ हो जाता है कि उसे खारिज कर दिया जाए...और खारिज करनेवाले कौन? परिवार, मेरी तरह किलोमीटर नापनेवाले लोग। अगर परिवार के बाहर कुछ नहीं होता तो कल के दिन कोई परिवार के लिए भी कुछ क्यों करेगा—उसमें भी तो जो अपने हिस्से का है, वही हमारे पास आना है।

"आज के लड़के-बच्चे बाप की कमाई और उसकी बचत को अपनी संपत्ति मानकर चलते हैं। उसमें कोई सुराख लगे...यह वे देख नहीं सकते।" मैंने एक समाजशास्त्री की तरह समझाने की कोशिश की।

"लेकिन सभी तो लड़के हैं...दामाद क्या लड़का नहीं हो जाता? कोई प्रिय शिष्य लड़का हो जाता है, दूर के रिश्तेदार का कोई अनाथ भी अपना बच्चा है...अगर पैसे की तंगई सोची जाने लगे तो सभी तंग हैं, हर समय थे, रहेंगे। इसके माने कोई किसी के लिए कुछ करे ही नहीं..."

हम चुप हो गए...वह उधर मैं इधर, जैसे निस्सारता की दीवार से आ लगे थे। थोड़ी दूर पर कचहरी के सामनेवाली चाय की दुकानों पर जो चहल-पहल थी वह अब नदारद थी। बरसात का आलम और उतरती शाम...एक गीला सन्नाटा हमें घेरने लगा था। सिर्फ कभी-कभी सड़क से गुजरते किसी रिक्शे की किनकिनाहिट या मंदिर में किसी भक्त द्वारा बजाई गई घंटी ही उस सन्नाटे को चीरती थी।

"तुम्हारे यहाँ तो ऐसा कोई बखेड़ा नहीं है।" हलका शांत होकर वह बोला।

"नहीं।"

मैंने एक शब्द में बात को सरका दिया और ढँक लिया स्वयं को। कोई कुछ भी मतलब निकाल ले...कि ऐसी कोई समस्या मेरे जीवन में आई नहीं, या कि मेरे संभ्रांत परिवार ने पूरा सहयोग दिया, या कि ये सब रूमानी बातें थीं जिनको मैंने अपनी कामयाब जिंदगी में कभी बहुत तरजीह नहीं दी। हकीकत जो थी वह यह कि मैं बचा रह सका क्योंकि मैंने कब के हथियार डाल दिए थे। खुद को बैल बना डालो तो कोई बखेड़ा नहीं होगा। रतन फर्क था, वह कुछ करने की सोचता था। वह इस सवाल से टकरा रहा था कि उसकी जिंदगी और कमाई में सब दूसरों का लगता है, उसका भी कुछ लगता है कि नहीं?

वह एक शब्द—"नहीं"...जैसे सूखे-सूखे मेरे मुँह से निकला था, उससे रतन एकाएक झुक गया। उसने जो मुझसे मिलने का खास प्रोग्राम बनाया था कि जो थोड़ी-सी विलक्षणता वह अपनी जिंदगी में ढूँढ़ने की कोशिश करता रहा और जो बराबर उससे भागती रही, उसे वह अब...यहाँ पहुँचकर रेखांकित कर सकेगा। अपने लिए, मेरी मौजूदगी में। मैं ही यह देख सकता था कि एक बेहद साधारण जिंदगी जीनेवाला, घर गृहस्थी को पूरी तरह समर्पित वह एक छोटा सा कोना तलाश रहा है जहाँ वह अपने को रखकर देख सके...कि यह है वह, जो कोई दूसरा नहीं...

लेकिन मैं...मैं निकला था एक और पस्त घोड़ा। मेरी उस "नहीं"

ने समय के उस टुकड़े को भी काटकर रख दिया जिस पर मैं और रतन एक साथ खड़े थे...अब तक। अगर उमा नहीं...तो मैं भी कहाँ...

सड़क जो उस छोटी-सी बस्ती को बाहर से जोड़ती थी, जिस पर हम कितनी बार चले होंगे और जो कुछ देर पहले तक चीन्ही जा सकती थी...वह अब अँधेरे में डूब गई थी। मंदिर के पट बंद हो गए थे। दर्शन करनेवाले लौट चुके थे और वहाँ अब निस्तब्धता थी। सिर्फ भीतर रहनेवाले दो-चार लोगों की हल्की आवाजें थीं जो कभी उठतीं पर फौरन ही जैसे अपने बोझ से ही दबकर बैठ जातीं।

रतन ने फिर उस विषय पर बात नहीं की, ठीक से किसी चीज पर नहीं की। जैसे कुछ था जो थोड़ी देर पहले तक हमारे बीच था,—पर अब जा चुका था। कुछ देर और हम उस ठंडी बैंच पर बैठे रहे। अपनी-अपनी तरफ दो भूतों की तरह।

उसने बताया कि वह कल जानेवाला है। मैंने विदा नहीं ली क्योंकि मैं मानकर चलता था कि वह मिलकर ही जाएगा। बसस्टैंड के लिए चले तो रिक्शे को थोड़ा मेरी तरफ से मोड़ना ही तो था...लेकिन दूसरे दिन मैं उसे खोज पाऊँ उसके पहले वह जा चुका था। अगले दिन मैं भी अपने कर्मक्षेत्र के लिए रवाना हो गया और वह मेरे वृत्त से फिर बाहर हो गया था।

साल भी मुश्किल से बीता कि आज उसके लड़के का पोस्टकार्ड मिला है, एक कोना फटा हुआ। संक्षिप्त-सी सूचना—पिता नहीं रहे. ..तेरहवीं इस दिन है...बस। जैसी साधारण-सी जिंदगी, वैसी ही खात्मे की खबर भी। जब वह मिला था तो उसे कुछ आभास था क्या... या कोई धक्का...

मैं सोचते-सोचते रुक जाता हूँ। मेरे इर्द-गिर्द धूल उड़ रही है...धूल ही धूल। धूल में तिरता दीख पड़ता है, एक कालखंड, कटी पतंग-सा, कलथइयाँ खाता चला जा रहा है आगे-आगे...! कमबख्त! उसने इस बार क्यों नहीं कहा—"अच्छा तो चलते हैं।"

बेबस

वे कहीं रहें, पचास-साठ फटे पुराने कपड़े-लत्ते, उनके साथ बराबर रहते हैं। कभी किसी को फैलाकर देखेंगे, तो किसी को पहनकर। किसी को बक्से से निकालेंगे तो किसी को बक्से में ठूँस देंगे। किसी पर हाथ फेरेंगे तो कुछ को चारपाई के सिरहाने लगा थपथपाकर देखेंगे...बदल-बदलकर इन्हीं कपड़ों-लत्तों को वे तकिए की जगह रखते हैं। एक-एक की खबर उन्हें रहती है। एक बार मैंने सैकड़ों छेदोंवाली एक बनियान हटा दी, उन्हें फौरन पता चल गया। ढूँढ़ मच गई। जब तक बनियान नहीं मिली, उन्होंने आसमान सिर पर उठा लिया था। चिथड़ों से वे ऐसे घिरे रहते हैं जैसे वे ही उनके पास-पड़ोसी हितैषी-मित्र हों।

वे नब्बे के इर्द-गिर्द चल रहे हैं। अम्मा कहती हैं कि अभी मैं उतना नहीं खा सकता। वे पुराने ब्राह्मण हैं तो मीठे से पुराना प्रेम है। महीने में कम से कम दो किलो शक्कर उन्हीं को होती है। घर में मिठाई आ गई तो आधी उनकी। आम खाना जो है सो अपनी जगह, ऊपर से दिन भर में एक किलो दूध और आधा पाव दलिया ले लेते हैं। एकदम दत्तचित्त होकर खाते हैं, सिर नीचा और आँखें बंद किये हुए—जैसे कि उनके आँख-कान भी साथ-साथ चबा रहे हों, जैसे कि जीवन में अगर कुछ है तो भोजन है। सोने से पहले वजनी दीवान को बैठे-बैठे खिसकाकर आड़ा-तिरछा लगाते हैं, कभी खिड़की से सीधी हवा की खातिर, कभी उत्तर-दक्षिण की गणित लगाकर। दक्षिण दिशा को पैर नहीं किये जाते। हमेशा तिरछी लगी

चारपाई पर ही सोते देखा है उन्हें। इन दिनों गर्मियाँ हैं तो सिर्फ एक लंगोटी लगाए वे दीवान पर पड़े दिखते हैं...कमरे के दरवाज़ा-खिड़की पूरा खुले, इस बात से बिलकुल बेखबर कि मकान में मैं हूँ, मेरी पत्नी भी हैं। रात को पेशाब करने वे बाथरूम नहीं जाते, हालाँकि बाथरूम उनके और माँ के लिए अलग है और उनके कमरे से तो करीब-करीब सटा हुआ है। एक प्लास्टिक की बोतल को ऊपर से काटकर रख लिया है, रात उसी में पेशाब कर लेते हैं और सबेरे बाथरूम में उंड़ेल आते हैं। उन्हें कोई बीमारी नहीं है, लेकिन अधिकतर वे कराहते ही रहते हैं—"अरे दैया...अरे मोरे करम रे...हाय! कैसो अंग-अंग बिगरो है रे...अरे भोगमान भुगतने है रे...अरे कोउ नहिं आय रे...अरे दुनिया मरत जात, मोहे जाने कबै मौत आहै रे..." उनकी कराहें तरह-तरह की आवाजों और स्वरों में निरंतर बहती रहती हैं, नहीं सुनाई देती तो तब जब वे पूजा करते हैं, खाते या गरियाते हैं...या जब आसपास कोई नहीं हो। किसी की आहट हुई तो उनका काँखना वैसे ही बहने लगता है जैसे किसी झरने का अटकाव हट गया हो और वह फिर बह चला हो।

खाने और कराहने के अलावा बाहर के संसार से उनका संपर्क गरियाने के रास्ते होता है। दिन में तीन-चार बार तो जरूर ही गला फाड़ गरियाना हो जाता है—जो कोई चपेट में आ गया। और कोई नहीं तो अम्मा हैं ही। सबेरे अगर उनके बाथरूम जाने के समय अम्मा बाथरूम में हुई तो वे उसी समय चालू हो जाते हैं—"अरी सासगधन की निकरह्या कि नहीं, जा पाई कि वहीं पसर कै रह जै है..." दिन में छोटी-से-छोटी बात पर उनकी और अम्मा की भिड़ंत होती रहती है...जैसे दो जानवर जो एक साथ कैद कर दिए गए हों, साथ रहते-रहते ऊब जाएँ और रह-रहकर एक दूसरे पर झपट पड़ते हों। भिड़ंत के बाद भी वे जंग को खत्म नहीं करते, आगे के लिए मुल्तवी कर देने का ऐलान करते हैं। "अरी अभागचंदिन! बेइमानिन, यहाँ चार मड़ई देख लये तो बिगर गओ दिमाग, चल घरै फिर तोरी दशा बनाई जैहै ठीक सें।" अम्मा न हुई तो मैं हूँ। मैं अमूमन चुप

रहता हूँ, उन्हें बोलने देता हूँ। कभी कोई प्रतिवाद कर बैठा तो वे फट से मुझ पर चढ़ बैठते हैं...अरे दलुद्रियो! आदमी हो जाओतना! मारैं खाँ लै आए हौ। जियन देव तनिक बेईमानो! हलालियो!!

ऐसा लगता है कि वे सिर्फ शरीर जीते हैं और उसी के लिए और सिर धुनकर कराहते रहते हैं, आँखें बंद कर, सिर नीचा कर—हाय...हाय...अरे आज यौ पखवा धरो है रे,...देह भमत है, कैसे चक्कर आउत है कि ठाड़ो तक नहीं होत बनत...अरे कैसी गर्मी चढ़ी है रे मूड़ में रे..."

उनके तौर-तरीके वर्षों पुराने हैं इसलिए उनके हाथ में भी नहीं है अब उन्हें बदलना। कोई मिलने आया तो दुखड़े रोकर उसके मन में अपने लिए दया उभारते हैं...बस आखिरी साल आय, ई साल नहीं बचैन अब...ऐसा कहते-कहते पिछले पंद्रह साल तो निकाल दिए हैं उन्होंने। अक्सर इतने जोर से काँखते-बिलखते हैं कि जो नहीं जानता वह घबरा जाए। मेरा एक दोस्त जिसने उन्हें पहले नहीं देखा था वह तो बोला—"इन्हें बहुत तकलीफ है, फौरन हस्पताल में भरती कराओ।" एक बार ये बेचारे स्वयं ही अपने जाल में बुरी तरह फँस गए—पहले यों ही कहा होगा, फिर शायद वहम हो गया कि पेशाब नहीं हो रही। वे काँखते रहे, शिकायत करते चले गए कि सबेरे से पेशाब लगी है और हो नहीं रही। तब वे छोटे कस्बे के अपने घर में थे। कस्बे के डॉक्टर ने सुना कि सबेरे से पेशाब नहीं हुई तो दौड़ा-दौड़ा आया। उसके सहायकों ने इनके हाथ पैर पकड़े और वह जुट गया सलाई डालकर पेशाब निकालने में। ये चीखते चिल्लाते रहे...पेशाब कुछ नहीं निकली, वहम जरूर निकल गया। डॉक्टर के जाने के बाद से आज तक...और ढेरों शिकायतें करते रहें हों, पेशाब न होने की शिकायत मुँह पर नहीं आई है। वैसे कभी-कभी सच भी बोलते हैं। दो साल पहले तक खासा दूर तक चल लेते थे। हमारे यहाँ आए थे, तो बाजार निकल गए। वहाँ एक पट्टी पर काफी देर तक बैठे हुए इन्हें किसी ने देख लिया और पूछा—"आप किसी का इंतजार कर रहे हैं क्या?" ये बोले—"हाँ मृत्यु का, आप मिलें

तो भेज देना..."

ये मेरे पिता हैं। उन्हें देखकर अक्सर मैं थक आता हूँ। इतना लंबा सफर! जिसमें पिछले पच्चीस से अधिक साल ऐसे कि जीवन में शरीर धारण करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं!

पिछली गर्मियों में जब अम्मा बीमार पड़ीं तो वे दोनों कस्बेवाले अपने घर में थे। अकेले ही रहते हैं वहाँ। बीमारी के तीन-चार दिनों तक कोई डॉक्टर को बुलाने नहीं गया, जब कि कै-दस्त लगातार हो रहे थे, हैजे के साफ लक्षण। जैसी की अम्मा की आदत पड़ चुकी है, वे अपने और जीवन के प्रति घोर वितृष्णा में, अपने को मनुष्य कम़ और मशीन ज्यादा लगाते हुए झेलती रहीं। एक तरह के नशे में उठतीं, बाथरूम जातीं और वापस आ पस्त पड़ रहतीं। आँगन के पार अपने कमरे में बैठे पिता सामने से अम्मा को देखते रहते और गरियाते जाते—"ई तराँ को घाम और लपट! भरी दोपहरिया में निकल जाएगी, कहेगी-मोहै शम्भू बाबू के जाने। कोऊ जौ कछू धर दे अल्लो-बल्लो, बासो-तिरासो सो खा लैने जैसे जनम-जनम की भूखी होय! ले भुगत अब...।" पाँचवें दिन जब बाथरूम से आते हुए अम्मा गिर पड़ीं तो पड़ोस की भौजी दौड़ी-दौड़ी गईं और डॉक्टर को बुला लाईं। डॉक्टर ने पिता को खूब लथाड़ा—"आज अगर खबर न मिलती तो साफ थीं ये।" पिता की सिट्टी-पिट्टी गुम...अगर सचमुच अम्मा को कुछ हो जाता तो क्या करते वे यहाँ अकेले, कैसे करते? किसी लड़के के पास रहना ही ठीक होगा अब...और मैं जब पहुँचा तो साथ आने को बगैर हो-हुज्जत तैयार हो गए थे। इस बार मैं दोनों को यहाँ ले आया था, हमेशा के लिए अपने यहाँ रखने की सोचता था क्योंकि अकेले छोड़ने लायक अब दोनों ही नहीं रह गए थे।

अम्मा के अलावा किसी और का बनाया खाना वे नहीं खाते, धर्मभ्रष्ट हो जाएँगे। उन्हें यह ख्याल ही नहीं आता कि अम्मा की भी अवस्था हो गई है, उनका एक पैर टेढ़ा हो गया है, वे ठीक से चल भी नहीं पातीं और हैजे की बीमारी उनको बेहद कमजोर कर

गई है। अपने लिए खाना बनवाने के अलावा वे उन्हें दिन भर दौड़ाते हैं—"तना यह ले आना, तना वह उठा देना" जैसे अम्मा बीस साल की लड़की हों। अपने कमरे से अम्मा को बुलाने का एक अलग तरीका ईजाद किया है उन्होंने—कटोरी पर चम्मच मारकर घंटी जैसी बजाएँगे कि अम्मा हाजिर हों। अम्मा डेढ़ टाँग से जी हुजूरी में भागती रहती हैं। बीच-बीच में झुँझलाकर चिल्ला पड़ती हैं—"नहीं करती, नहीं करूँगी", तो उधर से वे गरियाते हैं—करह्या न तो जैहै कहाँ, बंदरी लट्ठी के बल नचैगी...और सचमुच अम्मा जिंदगी भर बंदरिया की तरह नाचीं। पति की गालियाँ और मार सहने, उनकी सेवा करने के अलावा उन्होंने पढ़ा, घर का खर्च पूरा करने के लिए अध्यापिका हुईं, ट्यूशन किए, अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा दी। उन्होंने यह सब भी किया क्योंकि वे सोचती थीं...आगे का, बच्चों का। पिता को क्या, वे तो सोचते थे कि करेंगे ससुरे, जो जिनके भाग्य में होगा। लोग ताज्जुब करते रहे कि अम्मा पढ़ी-लिखी हैं। पति जानवरों जैसा सुलूक उनके साथ करते थे और वे झेलती रहीं? एक वाकया तो मेरे जेहन में आज भी साफ-साफ उभरता है। तब मैं सात-आठ का रहा होऊँगा। अम्मा मेरे साथ अपनी प्रधानाध्यापिका के घर गई थीं। पिता कहाँ थे मुझे ठीक-ठीक याद नहीं। हम रात वहीं रुक गए थे। दूसरे दिन पिता आए और अम्मा को बाहर बुलवाया। न बात न चीत और अम्मा के सिर पर एक जोर का थप्पड़ मार सड़क की तरफ़ ढकेल दिया। अम्मा गिरते-गिरते बचीं। ठीक जैसे गाय को भगाते हैं वैसे ही अम्मा को हाँकते हुए वे घर लाए थे। अम्मा आगे-आगे भाग रही थीं, पीछे वे थप्पड़ पर थप्पड़ मारते हुए, खदेड़ते हुए। मैं...रोता बिलखता पीछे-पीछे भागता चला जा रहा था। इसी तरह मुझे याद आता है—एक बार घर के आँगन में पिता ने अम्मा को रस्सी-रस्सी मारा था। आँगन के बीचों बीच नीम का पेड़ था, अम्मा बचने की कोशिश में उसके चक्कर पर चक्कर लगाती जातीं, पीछे-पीछे ये रस्सी लिए उन पर बरसाते हुए। जब बवंडर शांत हुआ था तब अम्मा एक कोने में बैठी खूब रो रही थीं, उन्हें रुक-रुककर हिचकियाँ

आती थीं। मैं सामने बैठा था, लाचार...पास में जलती एक ढिबरी। मैं अम्मा से पूछ बैठा था—"अम्मा! बाबू कब मरेंगे?" वे मुझे देखती रह गई थीं!

सबेरे-सबेरे वे एक चम्मच घी, एक चम्मच शक्कर और एक चम्मच पिसी काली मिर्च मिलाकर चाटते हैं...किसी ने कहा था—खाली पेट खाया जाए तो नेत्रज्योति बढ़ती है, उन्होंने गाँठ बाँध ली। तब तक अम्मा लोटा भर चाय बनाकर उनके कमरे में दे आती हैं। उधर से वे उनके रात के जूठे बर्तन उठाकर लाती हैं और उन्हें धोती हैं जो बर्तन धोने आता है वह पता नहीं किस जाति का है...पिता ने आपत्ति उठाई थी! उसके बाद अम्मा बाथरूम जाती हैं और पानी डाल डालकर, सींक की झाड़ू से बाथरूम धोती हैं, पिता द्वारा फैलाई गंदगी को साफ करती हैं...उसके बाद ही नहाती हैं। इस बीच पिता घूमने के लिए निकल गए होते हैं—अक्सर जनेऊ कान ही में फँसा हुआ और लंगोटी की नार फटे पैंट से निकलकर दोनों टाँगों के बीच झूलती हुई। सिर पर जरूर तब साबुत टोपी होती है...वह इसलिए कि घर में पहननेवाली टोपी दूसरी है। घरवाली टोपी का घेरा भर है। बालों के ऊपर आनेवाला टोपी का हिस्सा उन्होंने फाड़कर निकाल दिया है ताकि चैंथी पर हवा लगती रहे। बचे घेरे को भी पीछे की तरफ से काटकर सेफ्टी पिन लगा लिया है ताकि टोपी को जरूरत के हिसाब से कसा या ढीला किया जा सके...इलास्टिक, जबकि इलास्टिक उन्होंने नहीं देखी। जब तक वे लौटें तब तक अम्मा दलिया चढ़ा चुकी होती हैं, साथ-साथ उनके लिए खाना बनाती जाती हैं। खाना बनकर उनके कमरे में पहुँच जाए, उसके बाद ही गैस पर अन्यों का खाना बनना शुरू हो सकता है।

पिता को आम या मिठाई दिख जाए तो उनका चित्त चंचल हो उठता है। अम्मा इस बात का पूरा ध्यान रखती हैं कि जो भी ऐसी चीज घर में आए उसे सबसे पहले उनके कमरे में पहुँचा आएँ। अकसर तो ऐसा भी होता है कि दोनों में थोड़ी देर पहले खूब लड़ाई हुई, वे गरियाकर थकथकाकर "घर चल, वहाँ अच्छी तरह दशा बनाई

जाएगी" कहते हुए अपने कमरे में चले गए...और थोड़ी देर बाद ही अम्मा कटोरी में आइसक्रीम लेकर उन्हें देने पहुँची। अम्मा को शायद ऐसा लगता है कि चाहे जो भी इस व्यक्ति ने उनके साथ किया हो...अब इस मुकाम पर पहुँचकर...जब दोनों ही लाचार हैं, दूसरे को सहानुभूति मिलनी चाहिए। अम्मा उन्हें हर चीज तादात में भी सबसे ज्यादा देती हैं, फिर भी कभी-कभी उन्हें लोगों की आँख बचा कर फ्रिज से मिठाई या आम उठाकर ले जाते देखा जाता है...

तभी एक अघटना घट गई। अम्मा बालूशाही मिठाई का एक डिब्बा पिता के लिए उन्हीं के कमरे में रख आईं थीं। किसी की गलती से वह हमारे कमरे में रखी मेज पर पहुँच गया। बालूशाही का डिब्बा उनके कमरे से गायब होना...हाहाकार मच गया। यह पता लगते ही कि डिब्बा हमारे कमरे में था, पिता ने सीधे मेरी पत्नी को निशाना बनाया और व्यंग बाण चलाने लगे—"मैं तो पहले सें जानत तों, बा उठा लै गई हूहै। हम लोगन खाँ न कछू मिल पावै। हम ससुर ढोर जो ठहरे...धर देओ भुसा और सानी सारन के आगे! औ का!" पत्नी ने विरोध करने की कोशिश की कि डिब्बा उन्होंने नहीं उठाया था तो वे एकदम लड़ने निकल आए..."खा अपने लड़कन की कसम..." कहाँ नाचीज वह जरा-सी मिठाई, कहाँ बच्चे। पत्नी रोने लगी। अम्मा भी बिलख पड़ीं—इस दुष्ट के मारे कोई शांति से न रह पाएगा। पूरा आतंकवादी है यह! पत्नी दिन भर रोई—"मुझे चोरी लगाते हैं, जैसे कि मैं खाऊँगी वह सड़ी मिठाई।" मैं जानता हूँ—पत्नी को डाइबिटीज़ है, वह मिठाई खा ही नहीं सकती...पर इन सब पेचीदगियों/बारीकियों में जाने की फुर्सत पिता को कहाँ। वे गरियाते रहे, पत्नी रोती रही। दूसरे दिन वह अपने लड़का-बहू के पास दूसरे शहर चली गई—अम्मा रहें, आप रहिए मैं क्यों रहूँ, क्यों सहूँ। कोई मैं गुलाम हूँ, उनकी या कि आपकी...

अम्मा पत्नी का जाना चुपचाप देखती रहीं। मैं अपने सामने साक्षात काल की सवारी निकलते देख रहा था। एक समय पिता अपने वृद्ध पिता को अपने यहाँ रखने के लिए गाँव से ले आए थे

और अम्मा रखने को तैयार नहीं हुई थीं। मैंने उन्हें पिता से कहते सुना था—इस आदमी को वहीं रख आओ जहाँ से लाए हो। ये वे ही हैं जिन्होंने हमें घर से निकाल दिया था। रास्ते में पानी पीने के लिए उनका एक गिलास ले जा रहे थे तो उसे भी छीन लिया था। पिता कुछ नहीं बोल पाए थे, क्योंकि वह सच था। एक उसी मौके पर मैंने उन्हें चुप होते देखा था। अम्मा जो कितनी डाँट मार सहती थीं, उन्होंने धमकी दी थी—अगर वह बूढ़ा यहाँ रहा तो वे नहीं रहेंगी, नौकरी छोड़ देंगी। पिता को अम्मा के चले जाने की चिंता नहीं व्यापी होगी...क्योंकि अम्मा कहीं भी जातीं वे ढूँढ़ निकालते और घसीटकर वापस ले आते। इतने उद्दंड वे थे, लेकिन अम्मा की नौकरी छोड़ देने की धमकी काम कर गई होगी। जो हो तीसरे दिन वे अपने पिता को वापस गाँव छोड़ आए थे।

पत्नी का जाना सुनकर उन्हें थोड़ा ताज्जुब हुआ, लेकिन उसके आगे कुछ नहीं। उन्हें क्या फर्क पड़ता था। उनका सारा काम तो अम्मा करती हैं जिनको उन्होंने कसकर पकड़ रखा है। सभी अस्त्रों का इस्तेमाल करते हैं वे। मार-पीट, डाँट-फटकार, लताड़-दुत्कार तो करते ही हैं कभी बेहद दयनीय बन जाते है, कहेंगे—"अब तौ तैं जहाँ रैहे वहीं रैहों, तोरे ही आसरे पड़ो हौं, चाहे जैसे राख...।" कभी अम्मा तंग आकर बिना बताए कहीं को चले जाने की धमकी देती हैं तो वे ब्रह्मास्त्र उठा लेते हैं—"चली जा, मैं अन्न जल छोड़ देहों, छत सै कूद जैहों, प्राण दै देहों..फिर भगवान न्याय करेंगे, वे विचारेंगे जौन पाप तोहै लगेगा—ब्रह्म हत्या या कि पति हत्या, या कि दोनों!" कभी अम्मा को समझाना शुरू करते हैं—"देख ये कैसे चतुर हैं...लुगाई खाँ भेज दओ कि लड़का-बहू खाँ संभालै और हमैं लगा दओ कि ई घर का राखो...अब यहाँ मरो चाहै जिओ। उनको तो काम सधत है भाई। हमारी जरूरत रही तो ले आए...और का...अब कराउत हैं काम तोसैं...सो कर। अपने घर में नोने रहते, सो तोरे मारें न रहन पाये।" इस तरह की पैंतरेबाजी से वे पहले भी अम्मा को उकसाते रहे हैं कि अम्मा वापस कस्बेवाले घर चलें, "चल चलिए अपने घरै,

दो रोटी इज्जत की तो खैबी...।" वहाँ अम्मा सिर्फ उनका करें वहाँ उनका एकछत्र राज हो...और इसमें पहले वे कामयाव भी हुए हैं, हालाँकि सिर्फ पैंतरेबाजी से नहीं, हुड़दंगबाजी से—जैसे कि कोई बाहर का मुझसे मिलने आया उसी के आगे चालू हो जाएँगे—देखो हम बूढ़े-बुढ़िया को कैसी यातना दे रहे हैं ये, यहाँ जवरदस्ती रखे हैं, काम कराते हैं...या मेरे बाहर के किसी पड़ोसी को पकड़ पाए तो उससे ही कहेंगे—जरा इसे समझाइए, हमारा लड़का बनता है, हमे भूखा मारता है..." उनकी ऐसी ही हरकतों से परेशान होकर अम्मा तंग होकर चल दी हैं वापस उस छोटे से घर में पिसने के लिए। वे कहती हैं—"मैं गाली खाने, मार पीट से नहीं डरती, इस नंग्यांय से डरती हूँ। हाँ पिता कुछ भी कर गुजर सकते हैं, कोई लाज-लिहाज मर्यादा उन्हें नहीं बाँधती जब कि माँ पर संभ्रांत होने का ठप्पा लग गया तभी से जब से उन्होंने नौकरी करना शुरू किया। वे अपने ऊपर डाली जाती क्रूरता को ढककर रखना चाहतीं थीं, इसलिए पी जाती थीं। वे भाग जातीं अगर एकदम निम्न वर्ग की होतीं, लेकिन वे मध्यवर्ग की थीं। उनकी पढ़ाई-लिखाई भी क्या थी...मैट्रिक और बेसिक टीचर्स के लिए ट्रेनिंग...जो उनके संस्कार, उनके आसपास अन्य औरतों के उदाहरण के...इनके प्रभाव को कम करने की ताकत नहीं रखती थी। सहते रहना, धीरे-धीरे उनकी आदत बन गई।

पिता इस तरह के क्यों हुए? जब उनका ब्याह हुआ तो विवाह के बाद ही उन्हें उनसे भी पहले की पीढ़ीवाले एक बुजुर्ग ने सलाह दी थी—"पुजारी! लाठी के बल रखोगे तभी रहेगी, वर्ना सुंदर स्त्री तो चिड़िया होती है...ये आई, वह गई..." पिता ने गाँठ बाँध ली और शुरू से ही अम्मा से उनका संबंध डाँट-मार, लाठीवाला ही बना। अम्मा उम्र में 18 साल छोटी, सुंदर, इनसे ज्यादा पढ़ी लिखी उस जमाने में काम पर जानेवाली महिला थीं...तो हर जगह उन्हीं की पूछ। जैसे-जैसे जिंदगी पिता को पीछे और पीछे धकियाती चली गई, उनके भीतर हीन भावना भीगी रस्सी की तरह ऐंठती चली गई। उसी रफ्तार से गंसता चला गया क्रोध...अम्मा के लिए क्रोध,

हर किसी पर क्रोध, हर क्षण क्रोध। उन्हें जीवन में जो कुछ मिला, नोच-खसोटकर ही मिला...सो वही उनकी आदत बन गई।

अम्मा और उनके परिवार ने पिता के क्रोधी होने का कारण कुछ और ही ढूँढ़ निकाला था—विवाह के बाद पुजारी जी यानि कि पिता एक भूत को वश में करने के लिए दिया जलाकर दुबे के खंडहरे में बैठे थे। दो रात तो उन्होंने निकाल लीं...तीसरी रात भूत ने उन्हें डरा दिया। तंत्रमंत्र जो टूटा सो टूटा, भूत इन पर चढ़ बैठा। तब से आज तक नहीं उतरा...

हाँ जीवन भी तो भूत ही है, कमबख्त नहीं सधा तो उलटा चढ़ बैठता है आप पर।

पत्नी को गए कई दिन हो गए हैं। फोन पर उससे जब कब बात हो जाती है। मैं उन्हें आने को बाध्य नहीं करता क्योंकि सोचता हूँ कि माँ-बाप मेरे हैं, वह क्यों उनका भार उठाए। वह बात-बात में पिता की खामियाँ गिनाने लगती है। मैं कहता हूँ कि अब माँ-बाप कोई कद्दू-लौकी तो नहीं जो बाजार जाकर छाँटकर बढ़िया-बढ़िया ले आया जाए। पत्नी यह समझने को तैयार नहीं। उसे तो यह भी नहीं समझ में आता कि अब इस उम्र में ऐसी लाचारी में ये लोग जाएँ तो कहाँ जाएँ। वह कहती है—यह वे जानें, यह उनकी समस्या है! जो बालूशाही वाली हास्यास्पद बात से शुरू हुआ वह धीरे-धीरे एक बड़े तनाव का रूप लेता जा रहा है। पत्नी कहती, ठीक है अब शायद हमें यों ही रहना होगा अलग-अलग। ये मेरे माता-पिता जिन्हें कभी इतना शौक था कि कम उम्र में ही मेरा विवाह करा दिया था, क्या वे ही हमारे अलग होने का कारण बनेंगे।

एक दिन बर्तन धोनेवाला छुट्टी मार गया। अम्मा को मैंने बर्तन धोने नहीं दिए क्योंकि उम्र की वजह से उनकी उँगलियों में वह ताकत नहीं, जोड़ों में दर्द भी रहता है। मैं धोने लगा और पिता ने देख लिया, लुके-छिपे वे सब टोह लेते रहते हैं। देखते ही उन्हें मौका मिला और रसोईघर के सामने आ बुदबुदाने लगे...“बढ़िया है,...ऐ खूब

बढ़िया है। माँज बर्तन-भाँडे, बना रोटी! मेहरिया खाँ चढ़ा लओ मूड़ पै—ले नौकर पर नौकर—बर्तन-भाँडे खाँ नौकर, रोटी बनावे खाँ नौकर बिगर दई आदत! सो अब तना में फनफनाई और भग गई। मैंने तो ऐसो बाँध के रखो कि नोने आज तक रोटी बनाउत और सब करत है, देख ले। मजाल है जो न करै..."

वे अपनी तारीफ कर रहे थे कि उन्होंने अपनी पत्नी को कसकर रखा तो आज तक उनका करती है, जबकि मैंने ढील दी इसलिए अपनी पत्नी को बिगाड़ दिया और अब उसकी जगह रसोईघर के काम कर रहा हूँ...अरे कर रहा हूँ तो पत्नी से ही यह काम क्यों कराया जाए, सिर्फ इसलिए कि वह पत्नी है?

वे बोले जा रहे थे अनापशनाप...मैं भीतर तक मचमचा उठा—जिससे हर कोई नफरत करता है। यह आदमी जिंदा क्यों है! खाता, थलथलाता और बलबलाता है, दूसरों को दुःख देता है, उसमें ही अपनी शोखी समझता है...और क्या करता है यह...कब तक ददौं मचाता रहेगा? मरता क्यों नहीं? इसे अब मर जाना चाहिए...

"आप तानाशाह हैं, राक्षस हैं...मैं चीख पड़ा...आपके लिए बीवी आदमी नहीं जानवर है। सिवा अपने स्वार्थ के कभी कुछ और दिखा आपको? संसार में क्या एक भी व्यक्ति है ऐसा जिसके काम आते हों आप? उलटे अपना जीवन धारण करने के लिए दर्जनों लोगों को कष्ट देते हैं, उन्हें मुक्ति दीजिए...मुक्ति।"

वे एकाएक चुप...थोड़ा सहमकर मुझे देखने लगे—कि जीवन की यह कौन-सी व्याख्या थी जो मैं कर रहा था? मरने की तो वे भी सोचते हैं दिन में कई बार, लेकिन स्वयं को शरीर के कष्टों से मुक्ति दिलाने के लिए। दूसरों को मुक्ति...? नहीं वे ऐसा कुछ नहीं सोच रहे थे, उस स्तर पर तो वे जीते ही नहीं। शायद उन्हें झटका लगा था! अम्मा के तेज बोलने के तो वे अभ्यस्त थे, लेकिन मैं तेज पड़ूँ? माने उनका लड़का उन्हें गाली दे रहा था!

खामोश वे अपने कमरे में चले गए, फिर शाम तक कुछ नहीं बोले। जिसका मुँह चौबीसों घंटों-चलता रहता था, उसका एकाएक

अपना मुँह यों सिल डालना...घर में थोड़ी-थोड़ी दहशत भरने लगी थी। रात को उन्होंने चुपचाप खाना खाया और निढाल से पड़ रहे। चारपाई भी आड़ी-तिरछी नहीं लगाई। गर्मी की रात थी फिर भी देर रात मैंने उन्हें सिकुड़े पड़े देखा...निस्पंद, एक दुबली-पतली काया, बिस्तर पर तिरछी पड़ी हुई, जैसे अपने में घुसी चली जा रही हो। जो हर समय पूरे घर को मचमचाए रहता हो उन्हें ऐसी निरीह अवस्था में देखना अजीब लगा। थोड़ी दया उपजी, थोड़ा डर भी लगा। हिम्मत नहीं हुई कि हिला-डुलाकर देखता... मैं बेवजह तेज पड़ गया था। उनकी जिस क्रूरता को लेकर मेरा आक्रोश था, मैं खुद वैसी ही क्रूरता कर बैठा था।

"हाय...अरे दैया रे...अरे मोरे करम रे...सबेरे-सबेरे आवाजें सुनाई दीं तो मैंने राहत की साँस ली। उन्होंने हमेशा की तरह घी-काली मिर्च अपनी चिर परिचित तल्लीनता से चाटी। अम्मा चाय रख आईं तो चाय पी, डंडा लेकर घूमने निकल पड़े। रास्ते में अम्मा पड़ीं तो शुरू हो गए—

"ओ री! सामान बाँध ले, हम अपने घरै जैहैं...ई कुदेश में न रैहैं इन भ्रष्ट लोगन के साथ।"

"तौ तुम जाओ, अकेले रहौ वहाँ।" अम्मा ने कहा।

"जैहे कैसे न...तैं जैहै तोर माँछी (मक्खियाँ) जैहें...उनकी आवाज ने अपनी पुरानी तेजी पकड़ ली थी। अम्मा और वे फिर अपने झगड़े में उलझ गए थे। मुझे याद आया, कस्बे में भी सबेरे-सबेरे उनकी लड़ाई जरूर होती थी, जैसे रात के विश्राम के बाद दो योद्धा ताजे-ताजे पुनः युद्ध पर आ डटते हों। फिर कल तो वे आधा दिन से चुप थे। तबीयत भर गालियाँ देकर और खाकर वे निकल गए बाहर कराहते हुए—"अरे दैया रे...कैसो पखवा धरो है रे आज, कैसे चक्कर आउत हैं...कैसी देह भमत है रे..."

जिस कट्टरता से वे जिंदगी से चिपके हुए थे, आखिर जिंदगी भी कैसे छोड़ेगी उन्हें...पीछे से मैं सोच रहा था।

कैम्पस

दिन भर की थकी माँदी निशा जैसे ही दफ्तर से घर पहुँची कि दोनों बच्चियाँ एक साथ गोद में चढ़ने की जिद करने लगीं। अविनाश अभी नहीं पहुँचा था। पहुँच गया होता तो शायद बच्चियाँ उसमें व्यस्त हो जातीं, उनकी जिद का वेग इतना नहीं होता। ठीक इस वक्त निशा थोड़ी देर को चुपचाप पड़ी रहना चाहती थी...एकांत में शांत, आँखें बंद किए, सिर्फ अपने साथ। उसने बारी-बारी से बच्चियों को गोद में उठाया। थोड़ी देर दोनों को एक साथ लिए रही, आदतन फिर उनकी मनुहार में लग गई...

निशा-अविनाश कैम्पस में ही रहते और नौकरी करते हैं। कैम्पस में जो संस्थान है उसमें बीच श्रेणी के अधिकारी हैं दोनों, अलग-अलग विभागों में पिछले छह वर्षों से।

संस्थान का कैंपस हरा-भरा था। उसे सुंदर और छायादार रखने के लिए तरह-तरह के पेड़ लगाए गए थे-ज्यादातार ऐसे जो जल्दी बढ़ जाएँ, जिनमें जल्दी फूल आएँ और नहीं तो पत्तियाँ ही अलग-अलग मौसमों में रंग बदलें और फूलों का आभास दिया करें। गुलमोहर, यूकीलिप्टस और अमलतास जगह-जगह थे। अशोक के पेड़ों पर जहाँ-तहाँ मोटे मनीप्लान्ट्स की बेलें लिपटी थीं जिससे हरापन और भी बढ़ जाता। धूप के मौसम में धूप और गर्मियों में जगह-जगह घनी छाया कैम्पस में खूब थी।

कैम्पस की बड़ी सड़क गोल चहारदीवारी के साथ-साथ चक्कर

में घूमती चलती थी। छोटी सड़कें रिहायशी बंगलों/क्वार्टरों के बीच से गुजरती थीं...उन्हें बड़ी सड़क या कार्यालय की इमारतों से जोड़ते हुए। सड़कों के दोनों तरफ जहाँ भी खुला हिस्सा हुआ वहाँ महीन गद्देदार घास के लॉन थे जिनके इर्द-गिर्द फूलों की क्यारियाँ थीं। कायदे से बने बगीचों में मौसमी फूल खिलाए जाते थे। कहीं-कहीं पेड़ खासी तादात में पास-पास लगाए गए थे जिनसे जब चाहो जंगल में होने का सुखद गुमान भी हो लेता था। क्वार्टर्स की कतार पेड़ों के नीचे करीने से थी। एक पंक्ति में एक ही टाइप के क्वार्टर्स, बराबर के फासले पर...लगता जैसे दरख्तों के नीचे वे इत्मीनान से ऊँघ रहे हों। उनमें रहनेवाले भी एक ही तरह के—एक जैसी शिक्षा, आय, रहन-सहन, यहाँ तक कि परिवार भी घूम-फिरकर एक जैसा ही...सिर्फ मियाँ-बीवी किसी का आनेवाला बच्चा, किसी के एक, किसी के दो...बस।,

अविनाश के दो बच्चियाँ हैं। पहली बच्ची...मोनिका—जिसे मुनिया, मनुवर, मुन्नू, मन्नों और न जाने कितनो नामों से वह बुलाता था...जब जैसा लाड़ आया। कैम्पस में दफ्तर को जल्दी निपटाकर दौड़ा हुआ घर आया और मोनिका में डूब गया। "मेरी मुनियाँ...हमारी बिटिया को ये चाहिए न, अभी देता है पापा...अरे पापा तो ये भूल ही गया था...।" मोनिका सूसू करे तो पापा चड्ढी उतारे, "पौटी करे तो पापा कराए, वह नहलाए, खाए...कुछ भी करे...पापा के हाथों। सोते समय पापा कहानी सुनाए, थपकी देता जाए। मोनिका की एक-एक भंगिमा को गौर करता रहता अविनाश...कि उसमें अगर कोई जरा-सी निराशा क्षण भर के लिए भी घर कर गई तो कहर हो जाएगा। उसमें कोई ग्रंथि न बनने लगे। उसकी हर ख्वाहिश, हर जिद पूरी होना चाहिए। कभी तो मोनिका को जो नहीं चाहिए वह भी महसूसकर डालता अविनाश और उसे पूरा करने चल पड़ता।

कैम्पस शहर से कटा हुआ था इसलिए अपने में ही डूबा हुआ था। वहाँ एक दूसरे के घरों में आना-जाना कुछ ज्यादा ही था...लेकिन अविनाश-निशा के यहाँ कोई आता और ये दोनों उनसे कुछ बात

करने लगते तो मोनिका को लगता उसकी तरफ पापा का ध्यान नहीं है और वह फट से बातों के बीच आ जाती, ठुनकने लगती या कोई जिद खड़ी कर देती। पापा की ठुड्डी पकड़ अपनी तरफ खींचती, बार-बार खींचती। अविनाश चाहे जिस गंभीर बात में व्यस्त हो मोनिका उसे अपने से बातें करने को मजबूर कर देती, वर्ना ऐन उसी वक्त रोना-चिल्लाना शुरू कर देती। मेहमान इधर-उधर बगले झाँकते, थोड़ी देर में उठकर चल देते। वे चाहे अविनाश के सीनियर हों या जूनियर...सब इस या उस तरह से एक ही बात कहते थे। यह बच्चे को पालना नहीं उसे बिगाड़ना है। तब क्या होगा जब मोनिका स्कूल जाएगी, कैसे झेलेगी वह स्कूल का अप्रीतिकर वातावरण? तीन साल की हो गई, अभी तक अपने हाथ से खाती तक नहीं...पापा खिलाए-पिलाए, पापा सब काम करे! तब क्या होगा जब दूसरा बच्चा आएगा।

दूसरा बच्चा आने के पहले अविनाश ने खासी तैयारी की। बाल मनोविज्ञान पर ढेरों किताबें पढ़ डालीं। मोनिका उपेक्षित महसूस करेगी, जब वे दूसरे बच्चे को खिलाएँगे, उसे जलन महसूस होगी। मोनिका अपने आप में सिकुड़कर एकदम अंतर्मुखी हो सकती है, अविनाश ने ऐसी कितनी और चीजों को सोच डाला। उनसे बचने के लिए क्या-क्या उपाय किए जाएँगे...यह भी तय कर लिया। वह पहले की तरह मोनिका पर ध्यान बनाए रखेगा, निशा नए बच्चे का ख्याल रखेगी—मोनिका पिता की बच्ची बनी रहेगी। नया बच्चा माँ का होगा। बाहर की गतिविधियाँ कम करनी होंगी, ताकि बच्चों की उपेक्षा कतई-कतई न हो...

और अब ऐसा हो गया है कि किसी बाहरी व्यक्ति के आने से जो बखेड़े पहले मोनिका अकेले खड़े करती थी, अब दोनों बच्चियाँ मिलकर करती हैं। वे एक साथ माँ-बाप का ध्यान अपनी तरफ खींचती, एक साथ जिद करतीं, एक साथ ठुनकतीं और एक साथ रोती हैं। बच्चों से पल भर को भी ध्यान हटाना संभव नहीं। मेहमानों का तो इनसे बात करना दूर, पति-पत्नी का भी आपस में बातचीत करना

दूभर हो गया है। न केवल हर पल बच्चों की बातचीत, उन्हीं से बातचीत ही है जो होती है।

"मुझे परवाह नहीं" अविनाश कहता है-"हम दोनों नौकरी करते हैं, मैं नहीं चाहता कि जैसे दूसरे नौकरी पेशा लोगों के बच्चे उपेक्षित रहते हैं, उन्हें माँ-बाप का प्यार, समय तक नहीं मिलता वैसा हमारे बच्चों के साथ हो। मैं घरेलू किस्म का व्यक्ति हूँ, घर के अलावा अगर मेरे सोच में कुछ और नहीं आता तो यह जैसी मेरी बुनावट है उसे देखते हुए ठीक ही है। मैं उनकी तरफ ध्यान दूँ जो औपचारिकतावश मेरे घर में कुछ देर के लिए आते हैं या अपने बच्चों की तरफ जो मेरे घर में रहते हैं, मेरा खून हैं? मेरे बच्चों को मेरी ज्यादा जरूरत है या उन्हें जो रस्म अदायगी या अपनी बोरियत दूर करने या किसी खास मकसद से हमारे यहाँ आते हैं? मुझे नहीं चाहिए वह जिंदगी जो दिखावे की है, मुझे चाहिए वह जो मन की है। मेरा मन अगर बच्चों में डूबे रहने का है तो मैं वही करूँगा...

बाहर के लोगों का आना करीब-करीब समाप्त है। पता नहीं अविनाश को लगता है या नहीं, निशा को लगता है कि वे ऐसे घर में रह रहे हैं, जिसके दरवाजे और खिड़कियाँ हमेशा बंद रहते हैं। बच्चों के अलावा अगर कुछ है घर में तो घर का काम और अविनाश...

अविनाश से निशा का विवाह हो गया था...यों ही। चलते-चलते। निशा के पिता ने जल्दबाजी में पहले उसे अपने एक दोस्त के लड़के से ब्याहा था। उनका दोस्त अच्छा था...उसे वे वर्षों से जानते हैं जाना पहचाना, अच्छा परिवार है। वे चूक गए कि जरूरी नहीं अच्छे आदमी की औलाद भी अच्छी हो। लड़के के बारे में उन्होंने कुछ अता-पता नहीं किया। निशा की राय जरूर ली। उसने हाँ कर दी क्योंकि कहीं और कुछ था नहीं जिससे तुलना करके देखती। शादी के फौरन बाद पाया कि वह शख्स तो सिर्फ शरीर था। निशा को देखते ही उसे पीस देने को बेचैन हो उठता। क्रूरता, प्रताड़ना देना...इसके अलावा दूसरा कोई व्यवहार उसकी किताब में ही नहीं था। जैसे पत्नी नहीं,

वह कोई दुश्मन थी जिसे देखते ही वह गुर्रा उठता। कोई ऐसा दुर्व्यवहार नहीं था जो उसने उठा छोड़ा हो। किसी-किसी तरह तलाक लिया गया...उसके बाद भी निशा उसके बारे में सोचकर भय से थरथराने लगती। ऐसे में आया अविनाश। दो-चार दिनों का परिचय और अविनाश ने ऐसे ही प्रस्ताव रख दिया। अविनाश को घर चाहिए था, निशा को सुरक्षा...ताकि पुराना पति न केवल पास न फटके, निशा के ख्याल में भी न आए। अविनाश के घर की तरफ से आपत्ति उठी थी—एक विवाहिता औरत से? पूर्व विवाहित पुरुष का अविवाहिता से हो यह तो आम बात है, यहाँ तो उलटा था। क्या कमी थी अविनाश में...

अविनाश न यह जानता था कि उसमें क्या कमी थी, न यह कि निशा में क्या खास बात थी। शर्मीला, संकोची साधारण-सा आदमी...तो उसका भी ब्याह हो ही जाता, माँ बाप जहाँ कर देते। लेकिन नहीं, अपनी पीढ़ी की महत्त्वाकांक्षा उसमें थी—वह अपना विवाह खुद करेगा। उसे शहर की पढ़ी-लिखी लड़की चाहिए थी जिसके संपर्क में आने, उस संपर्क को विकसित करने, गहराने, ब्याह के प्रस्ताव तक लाने...इनके लिए जो खूबियाँ चाहिए थीं वे अविनाश में नहीं थीं। तो एक निशा को देखा और बस। निशा ने अपना अतीत बताया तो अविनाश के भीतर शहादत की भावना जाग बैठी...वह समाज में एक नई मिसाल कायम करेगा, एक लड़की को सहारा देगा। निशा ने एक और बात साफ कर ली—पहला व्यक्ति उसे शारीरिक और मानसिक दोनों स्तरों पर गच्चा-गच्चा रौंदकर गया है, निशा पूरी तरह रीत चुकी है, उसके मन में कुछ नहीं उठता, शारीरिक संबंध से उसे वितृष्णा होती है, वह अविनाश के लिए कुछ खास महसूस नहीं करती, कभी कर सकेगी...नहीं जानती। अविनाश उससे बहुत उम्मीदें न करे। वह उसे कुछ नहीं दे सकेगी...। अविनाश को सब मंजूर था। वह खुद मन का करने में विश्वास करता था। निशा अपने मन से चले...उसके मन में अविनाश के लिए प्रेम नहीं उठता न सही, अविनाश के लिए यही काफी था कि निशा होगी, उसके साथ रहेगी।

बच्चे हो गए वर्ना निशा अविनाश दो अलग-अलग द्वीप, जैसे कार्यालय में दोनों के अलग-अलग विभाग। मोनिका आई तो जरूर थोड़े समय के लिए उनके बीच कुछ नया-सा उगा पर वह जल्दी ही बह भी गया। दूसरे बच्चे के होने में वह भी महसूस नहीं हुआ। अब दोनों बच्चे उन्हें व्यस्त रखते हैं, कभी-कभी यह अहसास देते हैं कि वे उस चीज में व्यस्त हैं जिसमें अविनाश निशा की साझेदारी है। लेकिन ज्यों-ज्यों बच्चे बड़े हो रहे हैं त्यों-त्यों यह उजागर होता जा रहा है कि यह भ्रम ही है। साझेदारी सिर्फ बाहर की है। माँ जो नैसर्गिक रूप से बच्चों के लिए महसूस करती है...उतना भर निशा अपने में छू पाती है। उसके आगे कुछ नहीं। उसके भीतर को अविनाश, बच्चे, घर...ये नहीं भर पाते। इनके लिए वह सिर्फ अपनी जिम्मेदारी निभाती है। घर चल रहा है, वे चले जा रहे हैं...बच्चे बड़े हो रहे हैं। अगर सब ठीक-ठाक है तो निशा को घर में घुटन क्यों महसूस होती है। उसे बच्चों की चाह थी पर जैसे उन्हीं से आजिज आई दिखती है। घर आए कि बच्चे...उनकी वही-वही बातें वैसी ही फरमाइशें, अविनाश का उनके साथ वहीं लाड़ प्यार। घर में उछलती एक ही शब्दावली, क्षण प्रतिक्षण, दिन-प्रतिदिन, साल-दर-साल। अविनाश तक से उसकी कोई अलग से बात नहीं हो पाती। समय भी नहीं मिलता, थोड़ा बहुत तभी होता है जब बच्चे सो गए हों। दफ्तर के पहले और बाद, छुट्टी के रोज दिन भर बच्चों की फरमाइशें हैं, जिदें हैं, ठुनके हैं और ये अविनाश को ही नहीं, निशा को भी धूल-धूल कर चुके होते हैं; उनमें अपना कुछ भी नहीं बचता, जो उन्हें एक दूसरे से मुखातिब कर सके। बच्चों के सोते ही वे भी ऊँघने लगते हैं और बच्चों के आसपास लुढ़क जाते हैं। दूसरे दिन जागते ही फिर वही सिलसिला।

लोगों से संपर्क, सोशलाइजिंग...ऐसी किसी चीज की कमी महसूस नहीं होती। जहाँ निशा स्वयं को खखोर पाई है, उसे कमी महसूस होती है अपने एक कोने की...कोना जो नितांत उसका हो, उसका शांत एकांत...और उसे यही नहीं मिल पाता। लगता है जैसे वह

बराबर शोर और भीड़ में रहती है, सोना भी भीड़ में। बच्चे और वे सभी कमरे में लस्तपस्त पड़े रहते हैं जैसे प्लेटफार्म में पड़े हों। एक जरा कुनमुनाया कि सबकी नींद गई। वर्षों से जैसे उसकी नींद पूरी नहीं हुई। मन करता है हफ्ते भर के लिए कहीं चली जाए—जहाँ उसके सिवा कोई नहीं हो, वह सिर्फ सोये...खूब सोये दिनों दिन! छुट्टियाँ लेकर शहर छोड़ भी वे बहुत कम जाते हैं। पहले तो दोनों को एक साथ छुट्टियाँ नहीं मिलतीं, मिलीं तो अविनाश के घर जाना है... ससुराल, बच्चों के साथ, अविनाश के साथ...जैसे यही घर उठकर दूसरे शहर चला जाता है।

उसने अविनाश से कई बार कहा—अविनाश मैं हॉस्टल में रही हूँ। अकेले रहने की मेरी आदत है, उसमें मुझे शांति मिलती है। मुझे एक अपना कमरा चाहिए जहाँ मैं कभी-कभी खुद को बंद कर लूँ जहाँ मेरे अलावा कोई न हो। घर में कई कमरे हैं, कोई एक कमरा उसे मिल जाए। अविनाश ने भी उत्साह से कह दिया..."हाँ बिलकुल, तुम बाहर की स्टडी ले लो।" छुट्टी का एक पूरा दिन लगकर उसने कमरे को अपने ढंग से बनाया-बिठाया। शाम को जैसे ही कमरे की शांति भोगने वहाँ पहुँची, पीछे-पीछे आ गए बच्चे...अविनाश भी। निशा को लगा जैसे कोई पड़ोसी अपने शैतान बच्चों को लिए मिलने चला आया, बच्चे लगी-लगाई चीजों को इधर-उधर फेंक रहे हैं, निशा मना करने की कोशिश करती है तो बच्चे आसमान सिर पर उठा लेते हैं...देखते ही देखते, चौतरफा उठापटक, तोड़-फोड़ मच जाती है...निशा मन ही मन प्रार्थना कर रही है कि पड़ोसी कब अपने घर जाएँ, इस बार जाएँ तो फिर कभी न आएँ।

बच्चे तो नासमझ हैं, अविनाश से बात की जा सकती है तो उसने अविनाश से बात उठाई, खूब ठंडे, संतुलित ढंग से—

"अविनाश, मैं अपने लिए थोड़ा समय, संसार के इस लंबे फैले स्पेस में थोड़ी-सी अपने लिए जगह...यह चाहती हूँ। क्या मेरा इतना भी हक नहीं बनता?"

"मैंने कब मना किया है। मैं जब कहो उठकर चला जाऊँ, जब

तक कहो न आऊँ लेकिन बच्चों का कोई क्या करे।"

"उन्हें थोड़ा डाँटकर मना नहीं किया जा सकता, उन्हें सिखाया नहीं जा सकता?"

"तुम जानती हो बच्चों को डाँटने के मैं खिलाफ हूँ। हमें कोई ऐसी चीज नहीं करनी चाहिए जिससे उनके मन को ठेस पहुँचे...वैसे ही वे बेचारे काम करनेवाले माता-पिता के बच्चे हैं, दिन भर हमसे दूर रहते हैं। हम काम से लौटते हैं तो देखो कैसे चिपकते हैं हम से। मैं नहीं चाहता वे और उपेक्षित हों। उनका जहाँ मन हो, वे जाएँ खेलें कूदें।"

"और मेरा मन?"

"हम अपने मन को अनुशासित कर सकते हैं, बच्चों ने अभी यह नहीं सीखा।"

"तो क्या उन्हें नहीं सीखना चाहिए?"

"सीखे लेंगे...समय के साथ।"

"तब तक मेरा जीवन तो गया..."

"जो माँ-बाप बनते हैं, उनका जाता ही है।"

किस ठंडी निस्संगता से अविनाश निशा के जीवन को खारिज कर देता है, एक तरह से। निशा को लगता है कि अविनाश केवल सभ्य शब्दावली पकड़े हुए है, वरना वह भी बच्चों के साथ निशा के कमरे, उसके एकांत को नष्ट करने में शामिल है। क्योंकि अविनाश का जीवन घर और बच्चों के अलावा कुछ नहीं है, निशा का भी ऐसा ही होना चाहिए! अविनाश कहता है उसकी निशा से कुछ माँग नहीं है, लेकिन आदतन वह कुछ ऐसा करेगा, करता रहेगा जहाँ वह, निशा, बच्चे...सब एक जगह बैठे हों, बच्चे अपने मन की कर रहे हों और ये दोनों भी उसमें शामिल हों। वह कोई ऐसी स्थिति बनाकर अनायास ही निशा को भी खेल में घसीट लाएगा। इस तरह जो उसे चाहिए वह हासिल कर लेता है...फिर माँगने को बचता ही क्या है। अविनाश निशा का कुछ कहना सुन ले, समझ भी ले...पर अविनाश यह मान नहीं पाता कि निशा को इसकी जरूरत नहीं है। जब

उसे—पिता को, यह सब तृप्ति देता है तो माँ को कैसे नहीं देगा? एकांत-वेकांत निशा की झक्क है...भीतर से वह भी वही चाहती है जो अविनाश चाहता है। इसलिए अविनाश जाने-अनजाने वही स्थिति बनाए रहता है।

पर निशा...बार-बार उसने अपने लिए कमरा बनाया, देखते-देखते वह पूरे घर में जा मिला। वह यह कब से देख रही है, पस्त हो आई है। पस्त होकर अब वह 'घर' में शामिल है। वह 'कंडीशंड' होती जा रही है, घरेलू स्त्री बनकर रह गई है...कहाँ गया उसका फर्स्ट क्लास, पीएच.डी.! वह बौड़म निकलती आ रही है और उसे नौकरी नहीं, घर है जो बौड़म बनाता चला जा रहा है!

अविनाश का विकास अवरुद्ध नहीं है। वह पुरुष है, जब चाहे बाहर हो लेता है...और नहीं तो जब चाहे बच्चों के बीच से उठकर सिगरेट के लिए चौराहे तक ही हो आएगा। उसका काम ऐसा है कि जब कब उसे फील्ड वर्क के लिए दूसरे गाँवों-कस्बों जाना होता है, जहाँ उसे दूसरा माहौल मिल जाता है। उसके दोस्त भी हैं कैंपस में। जब घर से ऊबा, उनके यहाँ थोड़ी देर को बैठ आया। निशा कहाँ जाए...दफ्तर से आई, घर में घुस गई। वहाँ वे एक से चेहरे, यहाँ ये। किसी के यहाँ 'विजिट' करो तो अविनाश और बच्चों के साथ, जैसे वही चित्र दूसरे चौखटे में फिट कर दिया गया।

लेकिन एक फर्क हुआ है इस बीच—निशा उसे कैसे नकार सकती है—शांतनु।

शांतनु...कितने और लोगों की तरह कितनी बार आया होगा, और अविनाश-निशा की बच्ची (तब एक ही थी) में व्यस्तता से टकरा कर लौट गया होगा। क्या था कि वह आता रहा। उसकी नौकरी और घर दूसरे शहर में थे। वह जब इधर आता, निशा के यहाँ जरूर आता। निशा, अविनाश उनकी बच्ची यहाँ तक कि घर में खाना बनानेवाली, झाड़ू-पोंछा और ऊपर का काम करनेवाला नौकर...सभी से घुलमिल गया। वह कुछ विशेष है—यह तब पता चला जब दूसरा बच्चा निशा के पेट में था और वह गिरवाने का सोच रही थी—एक

ही तो सँभलता नहीं, दो करीब-करीब एक ही उम्र के? निशा ने पाया कि अविनाश से नहीं, वह शांतनु से बच्चा होने या न होने देने की सलाह कर रही थी। शांतनु का कहना था—प्रकृतिकर्म में व्यवधान मत बनो, हाँ उसके बाद तुम्हारे हाथ में है, चाहो तो तीसरा न करो। निशा जल्दी ही खुद इसी बात पर आ गई थी।

उसके बाद धीरे-धीरे शांतनु घर का ही एक सदस्य बन गया। अजीब बात कि ज्यों-ज्यों निशा का शरीर बेडौल होता चला गया, शांतनु का निशा के लिए स्नेह बढ़ा। निशा को एक बीमारी थी—वह 'डिप्रैशन' की गिरफ्त में आ जाती तो दिनोंदिन उसी में डूबी रहती...लेकिन उन्हीं दिनों अगर शांतनु आ गया तो वह उससे बात करके ही उदासी की जकड़न से निकल आती, हलका-फुलका महसूस करने लगती।

...जैसे गर्मी और लू के लंबे खिंचे दिनों-महीनों के बाद बादल का एक टुकड़ा आसमान पर उतरा आए। निशा को ऐसा लगा जैसे लंबी चढ़ाई के बाद एक चोटी पर आ गई वह...चोटी जो अपने गाँव की पहाड़ी की ही थी जिसे बचपन से ही रोज देखते थे, जहाँ होने की कल्पना करते थे। खूब हवा थी वहाँ...झरर-झरर। वहाँ से दूर-दूर तक, सभी दिशाओं में नजर जाती थी, आँखें जुड़ा जातीं। कई दिशाओं में फैला था शांतनु का जीवन, क्या नहीं था वहाँ—तरह-तरह की चीजें पढ़ना, जगह-जगह यात्रा करना, ट्रैकिंग पर निकल जाना, नए-नए परिवेश में रहना...जैसे जगह-जगह उसके छोटे-छोटे घर बने हुए थे। जितनी निशा एकरसता, वितृष्णा से घिरी हुई उतनी शांतनु के इर्द-गिर्द तरह-तरह की चीजें। जीवन के लिए उत्साह ही उत्साह। उम्र में उससे पंद्रह साल छोटी निशा, अभी से मरियल निकल आई। शांतनु में सभी के लिए करुणा, मिठास थी...कड़ुवाहट, ईर्ष्या, जलन रत्ती भर नहीं। वह कहता मन तो शरीर में छिपा कटोरा है, मैं तो स्वार्थवश इसमें अच्छी-अच्छी चीज़ें ही रखता हूँ...अपने कटोरे में गंदी चीजें क्यों रखूँ। शांतनु जितनी देर निशा के घर रहता, वहाँ रोशनी-सी भरी होती। शांतनु के पास बैठना जैसे अपने उस

कमरे में होना था जिसे निशा ने कितनी बार बनाया और जो हर बार ही बिखर गया था। शांतनु रहता तो निशा जल्दी घर लौटती। शांतनु से निशा की अकेले में भी बातें हो लेतीं...तब लगता जैसे नई पर्तें खुल रही हैं, जीवन के नए पक्ष उजागर हो रहे हैं, नये अर्थ प्रकट हो रहे हैं...जीवन सचमुच उतना ऊब भरा, व्यर्थ नहीं है। कैसे धीमे और मिठास से बोलता था शांतनु! कितनी करुणा थी वहाँ। निशा से ऐसे कोई पुरुष कभी नहीं बोला...पिता, न अविनाश ही। हाँ माँ जरूर...माँ जो कब की जा चुकीं। शांतनु के पास बैठे कभी-कभी लगता जैसे माँ थोड़ी देर को आ गई हों। निशा के डिप्रैशन को लेकर चिंता शांतनु में उसकी आत्मा से उठती थी। इसलिए निशा को भीतर तक भिगो जाती। शांतनु से कुछ भी छिपाना मुश्किल था...आईना था वह जिसके सामने अपना सब कुछ दिखता चला जाए। वह शांतनु को कब अपने पहले पति के बारे में बता गई, कब उसे अपने घर की...यहाँ तक कि अपने और अविनाश के बीच की चीजें बताने लगी...स्वयं निशा को पता नहीं चला। शांतनु से बातें करना...हर वार किसी नई गुफा में प्रवेश करना था जहाँ से प्रतिगूँज में निशा के भीतर उठती बातें ही जैसे शब्द पाकर उस तक आती थीं। शांतनु कहता—खुद से मुलाकात करो, अपने पास थोड़ा ज्यादा बैठो। अजीब बात कि शांतनु 'खुद' के साथ रहता था तो उसका जीवन भी कितनी बाहरी चीजों से भर गया था और निशा जिसकी अपने घर से बाहर किसी से बात तक नहीं, वह जैसे हर पल भीड़ में रहती है! शांतनु कहता—भीड़ में खुद को ढूँढ़ने की कोशिश करो, तुम्हें जो भी मिलेगा अपने आप से ही। जीवन मुसलसल सोचना होना चाहिए...कि आखिर हम जीवन से चाहते क्या हैं, जो चाहते हैं वह सही है कि नहीं। हम चल रहे कि भटक रहे हैं या कि सिर्फ किसी अंधी परिक्रमा में चले जा रहे हैं। लक्ष्यपरक चलना ही जीवन है...लंबा चलना...लक्ष्य भी सिर्फ उतना कि जीवन से गौण रहे...

निशा में सोच को कुरेद दिया शांतनु ने। वह उसकी मदद से स्वयं को चीन्ह रही थी। शांतनु से एक लंबा संवाद चलने लगा।

वह जब आता निशा उसके पास अकेले में बैठती...अविनाश से बाकायदा कहती कि उसे थोड़ा शांतनु के साथ बैठने का समय चाहिए—अकेले में। निशा जो भयंकर रूप से चुप्पा थी, किसी से खुल नहीं पाती थी वह अब अपनी भीतरी उथल-पुथल को भी शांतनु के सामने शब्द देने लगी थी। वह जो लिखती, शांतनु को दिखाती या उसके पास भेज देती। शांतनु नहीं आ पाता तो उसे पत्र लिखता था। अविनाश इत्मीनान से निशा को पकड़ा देता—तुम्हारा पत्र। एक बार शांतनु ने पूछा भी था "अविनाश को खराब तो नहीं लगता।" निशा ने उसे विश्वास दिलाया—"आप अविनाश को नहीं जानते, वह दूसरे पतियों से फर्क है, अलग किस्म का व्यक्ति है। मेरे उसके संबंध पति-पत्नी के उतने नहीं जितने दो व्यक्तियों के हैं। हम एक दूसरे के मामले में दखल न देने में विश्वास करते हैं, स्वामित्व-गुलामी की जगह दोस्तीवाली बात है हमारे दरमियान। अविनाश से कुछ छिपाकर करने की मुझे जरूरत नहीं...मैंने अविनाश को बताया है—मैं आपसे बहुत सीख रही हूँ—लोगों के बारे में, संसार के बारे में, अपने बारे में, जीवन के बारे में। आपसे बात करना मुझे अच्छा लगता है, बल्कि अब तो वह मेरी रूहानी जरूरत हो गई है। अविनाश का कहना सिर्फ इतना है—तुम शांतनु या कि किसी और के साथ बाहर की चीजों को बारे में, सारे संसार के बारे में बात कर सकती हो लेकिन निशा-अविनाश की बात निशा-अविनाश के बीच ही होनी चाहिए। निशा ने इस शर्त को निभाया है, हालाँकि वह मानती यही है कि शांतनु जैसे व्यक्ति का घर से जुड़ना, उसका थोड़ा-सा दखल जीवन में कैसा सुंदर मोड़ ला सकता है। हम सोचते हैं कि हम सब कुछ जानते हैं अपने बारे में, अपने मामलों में हमारा ही बात करने का हक बनता है...जबकि इन्हीं बातों में बाहरी व्यक्ति की सबसे ज्यादा जरूरत होती है। हमारा अपने मामलों से जुड़ाव इतना ज्यादा होता है कि हम तटस्थ होकर देख ही नहीं सकते, वह तो नहीं ही, जो हमारा हितैषी हमें सहज ही दिखा सकता है। लेकिन अविनाश इस मामले में जिद्दी है। वह कहता है कि पति-पत्नी के बीच जो

है उस बारे में जिस दिन कोई बाहर का बोलने लगा, समझो दाम्पत्य के खात्मे की शुरुआत है वह...

निशा बच्चियों को मनाए जा रही है। कभी-कभी तो बच्चों के मन की एक-एक चीज वह वैसे ही करने लगती है जैसे अविनाश करता है। उसके मुँह से लड़िहार के वे ही बोल निकलते चले आते हैं...जो अविनाश बोलता है...क्या अविनाश के साथ रहते-रहते वह बिलकुल उसके जैसे ही निकलती आ रही है। कभी-कभी तो शक होता है कि क्या सचमुच उसका अपना कुछ बचा है अब भी...बहुत पीछे छूटा हुआ...अस्पष्ट कुछ, अतृप्त कुछ, अकेले होने की प्यास...एक अदद कमरे की तलाश। बहुत दिनों शांतनु से न मिलो तो लगता है निशा का अपना आप उसकी पकड़ से छूटता जा रहा है।

शांतनु इधर कई महीनों से नहीं आया है। उसका भी घर है...वह अपने चक्करों में फँसा होगा। पत्र आया है कि वह नहीं आ पा रहा, चाहे तो निशा आ जाए—वह शांतनु के घर में उसके परिवार के साथ रुक सकती है, या अलग गैस्ट हाउस में...

निशा जाएगी...गैस्ट हाउस में रुकेगी, इस तरह थोड़ा अकेले भी रह सकेगी अपने साथ। रूटीन की जो यह जंगली घास सी उस पर उगती चली आ रही है, उसके बाहर निकल सकेगी थोड़े समय के लिए, दूसरी हवा उसे झकझोरेगी, महीनों की घिसघिस के बाद इतना-सा लेने का अधिकार तो बनता ही है उसका!

रात आँधी-पानी एक साथ आए। कैंपस के बड़े पेड़ चरमरा गए। कितने पेड़ टूट गए, कितने टेढ़े हो गए। बगीचों में पतले कीचड़ की पर्त बिछ आई थी। चारों तरफ एक गीला कसैलापन फैला हुआ था। जहाँ जंगल जैसा था वहाँ छोटे-मोटे सपाट रास्ते निकल आए थे। पौधे लस्तपस्त जमीन पर बिछे पड़े थे...जैसे कोई दैव उस शालीन जंगल को इधर-उधर से रौंदता हुआ निकल गया हो...

निशा ने आँखें फेर लीं...

उसने अविनाश को बता दिया था कि वह एक दिन को शांतनु

से मिलने उसके शहर जाएगी...गैस्ट हाऊस में ठहरेगी। अविनाश की तरफ से कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई थी। निशा ने शनिवार-इतवार के लिए जाने-आने के टिकट मँगवा लिए। तब भी अविनाश की तरफ से कुछ नहीं। जब निशा स्टेशन जाने के लिए स्कूटर पर बैठने लगी तब सहसा अविनाश ने झटके से बढ़कर अटैची उतार ली, पर्स छीन लिया, स्कूटरवाले को कुछ पैसे थमाकर चलता किया। उसके जाने के बाद पर्स से टिकट निकालकर निशा के सामने फाड़कर फेंक दिए...

"तुम नहीं जा सकतीं...और तुम्हारी यह शांतनु से खतोकिताबत ...यह सब भी बंद। बहुत हो चुका।"

सब कुछ वहुत ही एकाएक और सख्त-सख्त। उसके साथ ही वह बाहर निकल गया, सिगरेट से अपना गुस्सा झाड़ने।

निशा को फौरन कुछ समझ में नहीं आया। अचंभित वह देखती रह गई कि क्या हो रहा है...फौरन भीतर जरूर चली आई कि बाहर कोई 'सीन' न बन बैठे। क्यों नहीं जा सकती निशा...अविनाश का कोई ऐसा दोस्त होता तो क्या वह उससे मिलने दूसरे शहर नहीं जा सकता था? निशा क्या सिर्फ इसलिए नहीं जा सकती कि वह पुरुष नहीं है? अविनाश इस तरह रोकता है! क्या निशा अविनाश को यों रोक सकती थी? कहाँ छिपा था वह अँधकार अविनाश के भीतर। क्या यह वही अविनाश था जिसके लिए उसने किस आत्मविश्वास से शांतनु से कहा था—"आप अविनाश को नहीं जानते, वह फर्क है। हम दोनों पढ़े-लिखे, आधुनिक लोग हैं।" अब शक होता है कि वे साधारण अपढ़ पति-पत्नी के ऊपर कुछ हैं क्या! क्या हर पति-पत्नी चाहे वे जितने पढ़े लिखे हों...इस स्तर से ऊपर ही उठ नहीं सकते? अविनाश ने पहले कभी पतिवाला यह अधिकार नहीं जताया। वह तो कभी कुछ माँगता ही नहीं था, कहता था उसके लिए यही काफी था कि निशा है, उसके घर में, उसके बच्चों के बीच। शायद उसकी इसी सुरक्षा को खतरा पैदा हो गया। पीछे कहीं उसका आहत मन भी होगा कि उसने तो विवाह कर निशा पर एक तरह का उपकार

ही किया और निशा...लेकिन अविनाश को खतरा कहाँ से पैदा हो गया। निशा ने कोई सीमा नहीं लाँघी, सब कुछ उसे बता कर ही करती रही। न तो वह, न शांतनु ही यह सोच सकते हैं कि कोई अविनाश की जगह ले सकता है। शांतनु के खत अविनाश की जानकारी में ही आते थे। अक्सर तो अविनाश भी उन्हें निशा को दिया करता था..."ये तुम्हारा खत..." चार पाँच ही तो लिखे शांतनु...जब भी वह थोड़ा लंबे अर्से इधर नहीं आ सकता था। अविनाश बंद लिफाफे ही देता था, पढ़कर निशा अलमारी में रख देती, जहाँ दूसरे पत्र रखे जाते थे। शायद तब अविनाश ने पढ़े हों। निशा ने एक बार फिर उन पत्रों को उलट-पलटकर देखा। पाँच थे...छोटे-छोटे, स्नेहिल पत्र। फिर से पढ़ने पर शांतनु की भावनाएँ और भी कुछ बोलती लगीं, एक जगह कुछ ज्यादा ही भावनात्मकता थी, लिखा था—"कुछ लोग शुरू जिंदगी में ही इस कदर 'क्रश' कर दिए जाते हैं कि उनमें कुछ नहीं बचता। तुम्हारे पास दूसरे को देने को कुछ नहीं है, क्योंकि किसी से तुम्हें कुछ मिला ही नहीं। तुम कहती हो कि तुममें कोई आकर्षण नहीं। तुम अपने जीवन के शुरू में ही इतना दुःख झेल चुकी हो! जैसे पूरा पहाड़ गिरा तुम पर और तुम्हें गच्च करके छोड़ गया है। अपने हिस्से से ज्यादा का ही झेल चुकी हो तुम। मेरा मन करता है कि तुम्हें खूब प्यार और करुणा दूँ, जीवन में तुम्हें अब वही वह मिले"...

वह एक शब्द...प्यार! यह चुभा होगा अविनाश को, जैसे एक दूसरे ढंग से निशा को चुभ रहा है अब...कुछ-कुछ मिठास लिए है। क्या सचमुच कुछ ऐसा उगा है उसके जीवन में, कोई ऐसा व्यक्ति आया है क्या उसके संसार में जिससे जुड़ी छोटी-छोटी बातें भी यादें बनकर रहेंगी, सुंदर यादें जो लौट-लौटकर आएँगी, उस पर छा जाएँगी...क्या शांतनु को वह इस तरह से याद करती रही है? अजीब बात कि शांतनु के साथ अपने संबंध की पहचान उसे अविनाश के इस व्यवहार से मिलना थी।

तनाव की उस मनःस्थिति में भी खत के उस हिस्से से गुजरते

हुए खुद पर थोड़ा-सा प्यार हो आया निशा को। अगर शांतनु और उसे एक दूसरे से इतनी कीमती कोई चीज मिलती है तो क्या वह सिर्फ इस वजह से नहीं मिलनी चाहिए कि वह अविनाश की पत्नी है या शांतनु किसी का पति है?

कितने सवाल एकाएक उठ बैठे...वे जो कभी नहीं उठे थे। अविनाश के साथ पहली बार निशा ने खुद को पत्नी के रूप में पाया (अभी तक तो दोस्त मानती चली आई थी)...पत्नी जिसमें कैद भी है...वही जो पहले पति के साथ थी। फिर क्या फर्क हुआ इसमें और उसमें! व्यवहार का ही फर्क है, दृष्टिकोण तो वही रहा। क्या कोई रिश्ता इतना बड़ा हो सकता है कि आजीवन किसी और रिश्ते के बनने पर रोक लगा दे। निशा अब और हो ही नहीं सकती, सिर्फ इसलिए कि पत्नी बन चुकी? पति-पत्नी का असली रिश्ता वह है जो अपने आप चले, फले-फूले या कि वह जो अधिकार से हाँका जाए...इस तरफ, उस तरफ, दाएँ-बाएँ...

निशा को लगता है महत्त्वपूर्ण शांतनु या किसी से संबंध भी नहीं है, महत्त्वपूर्ण है निशा के जीवन की संभावनाओं का खुलना...जो अब तक नहीं हो सका—पहले उस हादसे की वजह से, फिर बच्चियों के आने की वजह से। शांतनु के साथ को शायद प्यार नहीं कहा जा सकता। यह संबंध कोई रेस्तराँ की मद्धिम रोशनी में रोमांटिक ढँग से विकसित नहीं हुआ, तब विकसित हुआ जब निशा के पेट में बच्चा था, जब वह कतई दर्शनीय नहीं थी, कुरूप होती जा रही थी! प्यार ही सही...अगर उसके जीवन की संभावनाएँ खुलने के लिए प्यार जैसे अनुभव से गुजरना जरूरी है तो क्या निशा सिर्फ इसलिए रुक जाए कि वह पत्नी है। नहीं आया मौका विवाह के पहले इस अनुभव से गुजरने का, अगर देर से आया तो क्या उसे इसलिए छोड़ देना होगा कि वह विवाहिता है। ईश्वर वह देना चाहते हैं, तब भी?

निशा अपने भीतर के 'चुप' में उतरती चली गई। वह क्या है...अविनाश के घर की प्रबंधक? नहीं यह उसका भी घर है। है तो उसे वह प्रतीति क्यों नहीं होती, क्यों बराबर यह लगता है जैसे उसका

इस्तेमाल किया जा रहा है...और कुछ नहीं। वह मनुष्य है या फर्नीचर जिसे एक जगह, एक आकार में सजे पड़ा रहना है। उसने स्वयं को मनुष्य महसूस किया, हिलने-डुलने की कोशिश की तो उसे फिर वापस उसी जगह रख दिया जाएगा...

अविनाश के लिए भी वह कोई साधारण स्थिति नहीं थी। पहली बार निशा के साथ वह इतनी अभद्रता से पेश आया था। कहाँ गईं उसकी बड़ी-बड़ी बातें—"विवाह को दोनों का विकास करना चाहिए, विवाह परतंत्र होकर रहना नहीं है, इसे सभ्य और आधुनिक तरीके से लेना चाहिए..." अविनाश यह सब मानता था पर उसका वह व्यवहार? आदमी की मान्यताओं और व्यवहार में ऐसा फर्क कहाँ से आ जाता है, खासतौर से पत्नी को लेकर? अविनाश ने मौका पाकर अपनी सफाई देने की कोशिश की—"तुमसे विवाह कर मैंने स्वयं को घर से भी काट लिया है। बच्चों और तुम्हारे अलावा मेरा अब और है कौन? मेरी तुमसे कोई अनापशनाप माँगें भी नहीं हैं..."

निशा कुछ नहीं बोली। ये सारी बातें 'रंग-रोगन हैं।' अविनाश अगर अपने घर से कटा हुआ है तो वह कहाँ अपने घर से जुड़ी है। अविनाश के घर तो जब वह कहता है वे हो ही आते हैं, निशा के घर कब जाते हैं? अविनाश की माँगें नहीं हैं तो निशा की कौन-सी माँगें हैं। घूम-फिरकर बात अधिकार की—पति का अधिकार, पुरुष का अधिकार! पहला पति पाशविक शक्ति का अधिकार जताता था, दूसरा अपनी अशक्तता का अधिकार जताता है—'देख लो, मैं तुमसे कुछ न माँगता हुआ एक किनारे पड़ा हूँ, तुम्हारे बच्चे और तुम्हारी देखभाल करता हूँ। इस पर भी तुम..." अगर विवाह एक करार है तो निशा ने किस चीज़ का उल्लंघन किया। उनके बीच तो यह विवाह से पहले से ही तय था कि वह अविनाश को कुछ न दे सकेगी...फिर यह अधिकार प्रयोग कि जो भी करना उससे पूछ कर करना है? क्या करार में यह भी था? थोड़ी देर को अगर मान लिया जाए कि था तो भी क्या कोई करार जीवन से बड़ा हो सकता है? सवाल है कि कोई करार जीवनेच्छा को बुझा रहा है या प्रदीप्त कर रहा है...

अविनाश रुक-रुककर अपने व्यवहार के पक्ष में दलीलें दे रहा था। निशा चुप बनी हुई थी। अविनाश इधर-उधर से बड़ी-बड़ी बातें भी उठाता—"अगर तुम शांतनु को लेकर सचमुच 'जैन्युन' हो तो फिर उसे पूरी तरह निभाओ। जाओ उस संबंध को पूरा जिओ... चली जाओ बच्चियों को छोड़कर...मैं इन्हें सँभाल लूँगा।"

क्या पूरा पाना ही अभीष्ट है?

अविनाश को कैसे बताया जाए कि अगर निशा शांतनु को लेकर 'जैन्युन' है तो अविनाश और बच्चों को लेकर भी तो है। क्यों एक का होना दूसरे को निकाल देना हो? निशा कोई अंधे प्यार की दौड़ में नहीं है कि घर-बच्चों को छोड़कर चली जाए। फिर यह अविनाश क्यों तय करे कि उसका शांतनु से संबंध कैसा और किस हद तक हो, पूरा हो या कि आंशिक हो, यह क्यों मान लिया जाता है कि स्त्री-पुरुष के संबंध का एक ही मकसद है कि पत्नी के किसी अन्य पुरुष से कैसे भी संबंध का मतलब पति की अवमानना ही है! बेशक शांतनु से संबंध आत्मीय है—आत्मीय न हुआ तो संबंध ही क्या, वक्त वरबादी है—पर क्या स्त्री के जीवन में परिवार पति और बच्चों के इतर कुछ और होना ही नहीं चाहिए, क्या पति-बच्चे सब कुछ दे सकते हैं?

अविनाश ने यह भी कहा कि अगर वह ऐसा करता तो क्या निशा बर्दाश्त करती? बिलकुल करती अगर उसे विश्वास हो जाता कि वह संबंध इतना ही जरूरी है, अविनाश के जीवन को यों खोलनेवाला है। अविनाश तो मानता है कि उसे किसी की जरूरत नहीं—निशा, बच्चे और इस नौकरी के बाद किसी की जरूरत नहीं—उलटे उसे जीवन में किसी का दखल ही नामंजूर है...पर निशा क्या करे अगर उसे जरूरत है—किसी ऐसे की, जो उसे जीवन समझाए, उसमें जीवन के प्रति प्रेम-उत्साह भरे, इस उचाटपन/मरियलपन से मुक्ति दिलाए जो उसे अक्सर घेर लेता है। बच्चों की तात्कालिक जरूरतें पूरी करते-करते अविनाश और वह दोनों ही ऐसे हो गए हैं कि सिर्फ सामने का ही सोच पाते हैं, दूर तक उनकी नजर जाती

ही नहीं। निशा क्या करे अगर इसमें उसे घुटन महसूस होती है। शांतनु के साथ वह ऐसा महसूस करती है जैसे अपनी चहारदीवारी के बाहर का देख रही है। अविनाश यह नहीं सोच पाता कि अगर निशा में कुछ फर्क आएगा तो उसका फायदा परिवार और अविनाश को भी मिलेगा? शायद उसका अहं आड़े आ रहा है कि निशा को प्रेम, उत्साह, दूरदृष्टि...जो कुछ भी मिलना है, वह अविनाश से ही मिलना चाहिए। अगर ऐसा कुछ है जो अविनाश से नहीं मिलता तो वह पाने लायक भी नहीं है...लेकिन यह कैसे संभव है कि एक ही व्यक्ति में सब कुछ समाहित हो, एक पूरी जिंदगी को जो कुछ मिले वह एक व्यक्ति के माध्यम से ही मिले! अविनाश को लेकर तो यह और भी नहीं सोचा जाना चाहिए...उनका विवाह प्रेमविवाह नहीं था, वे तो ठीक से एक दूसरे को जानते भी नहीं थे...

निशा चुप है...उसे समझ में नहीं आ रहा कि क्या हुआ, क्या हो रहा है...धुंध है जिसमें वह लिपटी है, उसी में तिरती रहती है। उसे लगता है अगर कुछ निकलेगा तो उसके 'चुप' में से ही निकलेगा—शांतनु और अविनाश दोनों से ही दूर। वह अविनाश से ज्यादा पढ़ी-लिखी है, उससे बेहतर सोच सकती है, फिर वह क्यों वही सोचे जो वह कहता है। निशा को ही 'खुद' को समझना है। एक बार समझ में आएगा, फिर तो बस उसी रास्ते पर चल देना है...पर वही तो...वह क्या है...निशा क्या चाहती है...

बाहर देखने को कुछ नहीं था, गीले वातावरण के अलावा फिर भी निशा का मन बाहर जाने को हुआ। उसने बच्चों को नौकर के जिम्मे किया और निकल दी। महीनों बाद आज वह घूमने निकली है। शांतनु ने एक बार कहा था सुबह का घूमना ही एक काम है जो हम सिर्फ अपने लिए करते हैं, बाकी सारा दिन जो भी करते हैं, वह दूसरों के लिए होता है...दूसरों के लिए सचमुच प्रेरित होकर नहीं, जबर्दस्ती से अनुशासन में या सिर्फ आदतन। निशा तो घूमने भी नहीं निकलती। उसकी दिनचर्या में क्या है जो सिर्फ उसके लिए है? नौकरी, बच्चों

की देखभाल, घर के इंतजाम सभी तो दूसरों के लिए हैं। सिर्फ अपना, अपने लिए, अपने मन या शरीर की सेहत के लिए...ऐसा है कुछ उसके जीवन में? क्यों हो, क्या वह स्वार्थ नहीं है? नहीं वह होना चाहिए ताकि हम बचे रहें, बचेंगे तभी तो दूसरों के काम आ सकेंगे। सब कुछ दूसरों के लिए समर्पित, सदा दूसरों के लिए उत्सर्ग में तत्पर, दूसरों के लिए स्वयं को होम कर देना—यह सब भावुक आदर्शवादिता है। निशा आधुनिक महिला है, आधुनिकता का तकाजा है कि अपना भी ख्याल करो...कम से कम एक संतुलन तो हो जिसमें स्वार्थ और परमार्थ गुंफित हों।

अविनाश कहता है कि वह अपने घर में, अपने बीवी-बच्चों के साथ तृप्त है, भले ही यह दूसरों से एकदम कटकर रहना हो। इसके खिलाफ कोई दलील वह सुनने को तैयार नहीं...बस उसका मन! मजाक यह कि वह मन की बात इतनी करता है और इसी मन की छूट वह निशा को देने को तैयार नहीं। निशा भी क्यों न अपने मन से चले। क्या कहता है उसका मन...पहले तो यह कि वह जो कुछ करे स्वयं करे, कोई उसे हाँके नहीं...किसी की कैद में वह क्यों हो। अविनाश कह सकता है कि घर की सुरक्षा और सुख के लिए यह परतंत्रता जरूरी है...लेकिन स्वतंत्र महसूस किए बिना जीने की प्रतीति ही कहाँ है। सुखी घरों में रहने को कुछ लोग मृत्यु भी कहते हैं। निशा जो करे...शांतनु से मिलने जाए न जाए, उससे कोई संबंध रखे न रखे। यह उसे तय करना चाहिए, किसी दूसरे को नहीं। शांतनु उसके जीवन में बेहद कीमती है...घर के बंधन के लिए, बंधन के सुख के लिए वह इस कीमती चीज को छोड़ दे? कोई कह सकता है कि शांतनु कीमती है यह निशा का भ्रम है, मात्र भ्रम! उस मायने में हर सुख, खुशी क्या भ्रम ही नहीं है? छोटे बच्चों से मिलनेवाला सुख, पति और घर का सुख...ये भी क्या भ्रम नहीं हैं? ये सुख का भ्रम भी हमेशा कहाँ देते हैं...एक नकली सुरक्षा, उसकी आदत...आदत की उस चहारदीवारी में भले ही वे कभी सुख जैसी प्रतीति करा जाते हों, कुछ क्षणों के लिए!

आज निशा खूब पैदल चलेगी...कैम्पस की चहारदीवारी के भीतर के गोल-गोल चक्करदार रास्ते पर नहीं, बाहर का कोई लंबा रास्ता...रास्ता जिस पर वह चलती चली जाए,...चलती जाए...रास्ता खत्म होने को ही न आए...चलना...सिर्फ चलना...

चहारदीवारी पार कर उसने खुला रास्ता पकड़ लिया। कुछ दूर चलकर पीछे देखा...कैंपस हरे-हरे झुरमुट में कहीं खो गया था। सिर्फ चहारदीवारी की उधर की दीवार दीख पड़ती थी...पुख्ता और सख्त! बाहर के खुले रास्ते के दोनों तरफ वृक्ष थे...बड़े-बड़े, छायादार। उनकी पत्तियाँ हलकी हवा में हिल रही थीं...कैसी जान थी उनमें। ये ही, जब हवा उन्हें नहीं छूती चलती तो कैसी बेजान-सी नीचे की तरफ को लटकी होती हैं। सामने बादलों के एक अंबार के नीचे से किरणशलाकाएँ फूट रही थीं। वे जहाँ-जहाँ पत्तों को छूतीं...पत्ते चमक उठते थे...

ताजगी निशा को ऊपर से नीचे तक नहला गई...लगा जैसे प्रकाश ही प्रकाश है उसके चारों ओर, उसके भीतर भी! इतने बड़े वृक्ष ये...ये भी धूप और हवा के बिना जीवित नहीं रह सकते। घर भी वृक्ष ही हैं...स्थिर और छाँह देनेवाले। धूप हवा चाहिए...जरूरी है कि मंद-मंद हवा घर के भीतर से, भीतर रहनेवालों के भीतर से गुजरती बहती रहे। न यही कि हवा रोक दी जाए, न यही कि वह अंधड़ बन जाए...

पुलक भरी सिहरन से निशा रोमांचित हो आई रोमांच आँखों में भी छलछला आया...वह नई स्फूर्ति से आगे बढ़ने लगी।

●●●

आज निशा खूब पैदल चलेगी...कैम्पस की चहारदीवारी के भीतर के गोल-गोल चक्करदार रास्ते पर नहीं, बाहर का कोई लंबा रास्ता...रास्ता जिस पर वह चलती चली जाए,...चलती जाए...रास्ता खत्म होने को ही न आए...चलना...सिर्फ चलना...

चहारदीवारी पार कर उसने खुला रास्ता पकड़ लिया। कुछ दूर चलकर पीछे देखा...कैंपस हरे-हरे झुरमुट में कहीं खो गया था। सिर्फ चहारदीवारी की उधर की दीवार दीख पड़ती थी...पुख्ता और सख्त! बाहर के खुले रास्ते के दोनों तरफ वृक्ष थे...बड़े-बड़े, छायादार। उनकी पत्तियाँ हलकी हवा में हिल रही थीं...कैसी जान थी उनमें। ये ही, जब हवा उन्हें नहीं छूती चलती तो कैसी बेजान-सी नीचे की तरफ को लटकी होती हैं। सामने बादलों के एक अंबार के नीचे से किरणशलाकाएँ फूट रही थीं। वे जहाँ-जहाँ पत्तों को छूतीं...पत्ते चमक उठते थे...

ताजगी निशा को ऊपर से नीचे तक नहला गई...लगा जैसे प्रकाश ही प्रकाश है उसके चारों ओर, उसके भीतर भी! इतने बड़े वृक्ष ये...ये भी धूप और हवा के बिना जीवित नहीं रह सकते। घर भी वृक्ष ही हैं...स्थिर और छाँह देनेवाले। धूप हवा चाहिए...जरूरी है कि मंद-मंद हवा घर के भीतर से, भीतर रहनेवालों के भीतर से गुजरती बहती रहे। न यही कि हवा रोक दी जाए, न यही कि वह अंधड़ बन जाए...

पुलक भरी सिहरन से निशा रोमांचित हो आई रोमांच आँखों में भी छलछला आया...वह नई स्फूर्ति से आगे बढ़ने लगी।

●●●



गोविंद मिश्र

हिंदी साहित्य के एक सुपरिचित और प्रतिष्ठित नाम। निरंतर स्तरीय लेखन के लिए विख्यात। करीब 25 वर्षों में फैली रचनाशीलता को उजागर करनेवाली कृतियाँ हैं–

उपन्यास : 'वह/अपना चेहरा', 'उतरी हुई धूप', 'लाल-पीली ज़मीन', 'हुजूर दरबार', 'तुम्हारी रोशनी में', 'धीर समीरे', 'पाँच आँगनों वाला घर।'

कहानी-संग्रह : 'रगड़खाती आत्महत्याएँ', 'नए-पुराने माँ-बाप', 'अंतःपुर', 'धाँसू', 'खुद के खिलाफ', 'ख़ाक इतिहास', 'पगला बाबा', 'आसमान...कितना नीला', 'कवि के घर में चोर' (बच्चों के लिए)।

यात्रा-संस्मरण : 'धुंधभरी सुर्खी', 'दरख्तों के पार... शाम', 'झूलती जड़ें'।

निबंध : 'साहित्य का संदर्भ', 'कथा भूमि', 'संवाद अनायास'।

विविध : 'मुझे घर ले चलो' (सभी विधाओं का प्रतिनिधि संकलन), 'लेखक की ज़मीन' (साक्षात्कारों का संग्रह), 'अर्थ ओझल' (प्रमुख बीस कहानियों का संकलन), 'स्थितियाँ रेखांकित' (संपादित कथा-संकलन विशद भूमिका के साथ), 'प्रतिनिधि कहानियाँ'।

पुरस्कृत कृतियाँ : 'लाल-पीली ज़मीन' ऑथर्स गिल्ड ऑफ इंडिया द्वारा; 'हुजूर दरबार' उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के प्रेमचंद पुरस्कार द्वारा और 'धीरसमीरे' भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता, द्वारा।

'तुम्हारी रोशनी में' और 'धीरसमीरे' गुजराती में अनूदित और प्रकाशित, कई कहानियाँ अन्य भाषाओं में।

आवरण : नरेंद्र श्रीवास्तव



राधाकृष्ण